श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा का एकमात्र हिंदी मासिक

विवेक शिखा

वर्ष-१० जनवरी-१९९१ अंक-१

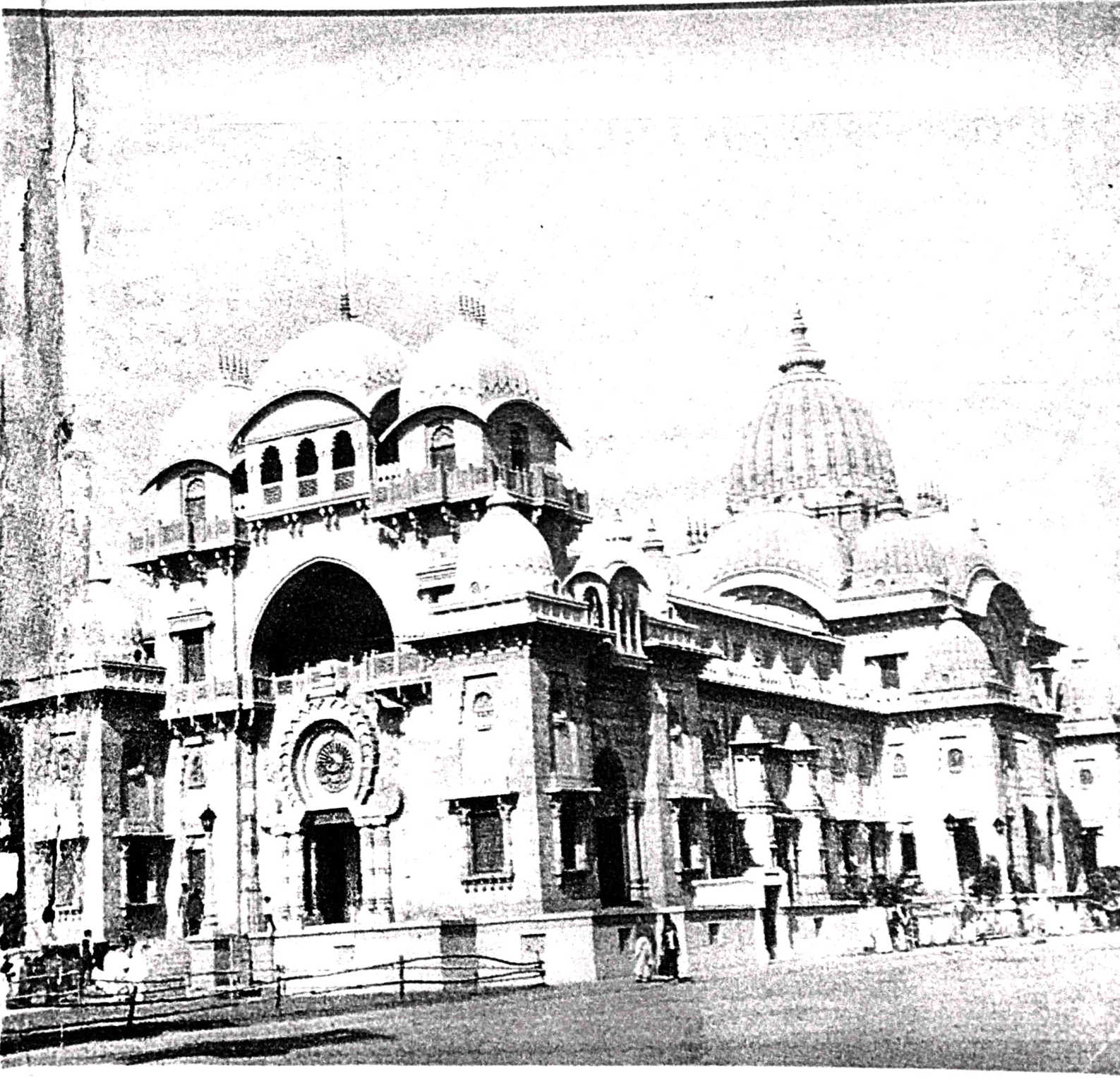

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

७०. श्रीमती उषा श्रीकांत रेगे—दादर, बम्बई
७१. कुमारी इन्दु जोशी उत्तरकाशी (उ० प्र०)
७२. श्री के० अनूप—रोइंग (अरुणाचल प्रदेश)
७३. गंगा सिंह महाविद्यालय—छपरा (बिहार)
७४. डॉ० उषा वर्मा - छपरा (बिहार)
७५. श्री विजय कु०प्रभाकर राव शंखपाल (महाराष्ट्र)
७६. श्री विजय कुमार सिंह, शुमरीतिलैया (बिहार)
७७. श्री रघुनन्दन मेठी, कोटा, (राजस्थान)
७८. श्री भृगुनाथ प्रधान, जमशेदपुर (बिहार)
७९. डॉ० अमरेन्द्र कुमार सिंह, छपरा (बिहार)
८०. श्री रविशंकर पारीक ललित, जयपुर (राजस्थान)
८१. श्री सनत कुमार दुबे - सिवनी मालवा (म०प्र०)
८२. डॉ. आशीष कु. बनर्जी-रामकृष्ण मिशन, वाराणसी
८३. श्री चन्द्र मोहन—टुंडला (उ. प्र.)
८४. श्री बी. एल गुप्ता—मानवार (म. प्र.)
८५. डॉ. टी. जे. हेमनानी—नागपुर (महाराष्ट्र)
८६. डॉ. एस. एम. सिंह—इलाहाबाद
८७. श्री श्याम सुन्दर चमरिया—बम्बई
८८. श्री जयप्रकाश गुप्ता—परौना, सारण (बिहार)
८९. श्री अमरेश कल्ला - जयपुर, (राजस्थान)
९०. श्री प्रफुल्ल तुंगारे—पुणे (महाराष्ट्र)
९१. श्री ए० के० चटर्जी, आ. ए. एस.—पटना
९२. श्रीमती प्रभा भार्गव—बीकानेर (राजस्थान)
९३. श्री शशिकांत मिश्र—रामकृष्ण मिशन (मध्य प्रदेश)
९४ श्री के० सी० सरोक - बम्बई

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. मूर्त महेश्वर स्तोत्रम्		२
३. सुनो, वह अग्नि मंत्र	सम्पादकीय सम्बोधन	३
४. ईश्वर प्राप्ति के उपाय	श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज	६
५. स्वामी विवेकानन्द और आधुनिक बुद्धिजीवी	स्वामी तथागतानन्द	११
६. स्वामी विवेकानन्द और कश्मीर	प्रो० चमनलाल सप्रू	१६
७. युवावर्ग को स्वामी विवेकानन्द का सन्देश	स्वामी स्वाहानन्द	१९
८. अष्टावक्र गीता का अध्यात्मक बोध	डॉ० हरिनारायण मिश्र	२४
९. स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन कथा	चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय	२७
१०. विवेक चूडामणि	स्वामी वेदान्तानन्द	३१

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष — १० | १९९१—जनवरी | अंक — १

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	२५ रु०
रजिस्टर्ड डाक से	४० रु०
एक प्रति	३ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी जल में, दर्पण में, तथा अन्य स्वच्छ वस्तुओं पर उनका प्रकाश अधिक दिखाई देता है। इसी भाँति, ईश्वर का प्रकाश सब के हृदय में समान होने पर भी साधु-महात्माओं के शुद्ध हृदय में वह अधिक उज्ज्वल रूप से प्रकाशित होता है।

(२)

जीवन में सफलता पानी हो तो अपने भीतर पुरुषार्थ, मर्दपना रखना चाहिए। कई लोग ऐसे होते हैं जिनमें कोई दम ही नहीं होता - मानो दूध में भिगोया हुआ चिउड़ा हो, नरम और ठण्डा ! भीतर कोई जोर ही नहीं ! उद्यम करने की सामर्थ्य ही नहीं ! इच्छा शक्ति नहीं ! ऐसे लोग जीवन में कभी सफल नहीं होते !

(३)

सभी स्त्रियों को अपनी माता की तरह देखो। कभी स्त्रियों के चेहरे की ओर नजर न डालो, सदा उनके पैरों की ही ओर दृष्टि रखो। ऐसा करने पर कोई कुभाव नहीं आ पाएगा।

(४)

बाँस की आग जल्दी बुझ जाती है; उसे फूँक-फूँककर प्रज्वलित रखना पड़ता है। मन में उच्च भाव जाग्रत रखने के लिए निरन्तर साधना करनी पड़ती है।

प्रणाममन्त्र।

नमः श्रीयतिराजाय विवेकानन्दसूरये ।
सच्चित्सुखस्वरूपाय स्वामिने तापहारिणे ॥

मूर्तमहेश्वर स्तोत्रम्

मूर्तमहेश्वरमुज्ज्वलभास्करमिष्टममरनर वन्द्यम् ।
वन्दे वेदतनुमुज्झित गर्हित कांचन कामिनी बन्धम् ॥१
कोटि भानुकरदीप्तसिंहमहो कटितटकौपीनवन्तम् ।
अभीरभीर्हुङ्कारनादितदिङ्मुख प्रचण्ड ताण्डव नृत्यम् ॥२
भुक्ति मुक्ति कृपाकटाक्षपेक्षणमघदल विदलन दक्षम् ।
बालचन्द्रधरमिन्दु वंद्यमिह नौमि गुरु विवेकानन्दम् ॥३

भावार्थ— श्रीयुक्त, संन्यासिराज, सच्चिदानन्दस्वरूप, त्रितापहारी, सर्वज्ञ स्वामी विवेकानन्द को प्रणाम !

जो सूर्य के समान उज्ज्वल एवं देवताओं और मनुष्यों के पूज्य हैं, जिन्होंने ऐश्वर्य और काम के कुत्सित बन्धन को त्याग दिया है, उन वेदमूर्ति मनुष्यरूप में अवतरित इष्टदेव महादेव को मैं प्रणाम करता हूँ ।१

अहो, जो करोड़ों सूर्यों की किरणों से समुज्ज्वल सिंह के समान हैं, जिन्होंने कटि प्रदेश में कौपीन धारण किया है, जो अभीः अभीः (भय नहीं, भय नहीं) के रव से दिशाओं को निनादित कर प्रचण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं—।२

भोग और मोक्ष जिनके कृपाकटाक्ष मात्र की अपेक्षा करते हैं, जो पापों के समूह को विदलित करने में समर्थ हैं, जो बालचन्द्रधारी शिव के स्वरूप हैं, उन बालेन्दु के पूज्य गुरु विवेकानन्द को इस स्तोत्र के द्वारा मैं प्रणाम करता हूँ ।३

सुनो, वह अग्नि-मंत्र !

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

'विवेक शिखा' इस अंक के साथ ही अपने जीवन के दसवें वर्ष में प्रवेश कर रही है और मैं एक अनुपम आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। आज से दस पूर्व जब इस पत्रिका के प्रकाशन की एक दैवी प्रेरणा स्फुरित हुई थी तब एक शंका मन में बार-बार उभर आती थी। एक गहरी निष्ठा के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं था। लेकिन तभी स्वामीजी की एक वाणी—एक अग्नि मंत्र पर सहसा दृष्टि जा पड़ी – 'भविष्य में क्या होगा, इसी चिन्ता में जो सर्वदा रहता है, उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिए जिस बात को तू सत्य समझता है, उसे अभी कर डाल; भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं होगा, इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? तनिक सा तो जीवन है; यदि इसमें भी किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहें तो क्या उस कार्य का होना संभव है ? फलाफल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। जैसा उचित होगा वैसा ही वह करेगा। इस विषय में पड़ने से तेरा क्या प्रयोजन है ? तू उसकी चिन्ता न कर, अपना काम किये जा।"१ वह वाणी विद्युत-संगीत की भाँति मन-प्राणों में गुंजित हो उठी थी। और आज देख रहा हूँ, अनेक अभावों के बावजूद, सर्वथा साधन रहित होने के बावजूद विवेक शिखा की लौ विगत नौ वर्षों से प्रज्वलित रही है और हिन्दी-अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द भावधारा के प्रचार प्रसार में यह एक सशक्त भूमिका निभाती चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द की कृपा से अभिषिक्त यह पत्रिका जगन्नाथ के रथ की भाँति चल पड़ी है— शनैः शनैः किन्तु अपनी अनवरतता, निरन्तरता के साथ। मैं स्वामीजी के पाद-पद्मों पर श्रद्धावनत हूँ।

रामकृष्ण मिशन के जिन वंदनीय साधु-ब्रह्मचारियों एवं मेरे अन्य मित्रों ने इसके प्रकाशन में बहुविध सहयोग किया है, एवं जिन ग्राहकों-पाठकों ने इसे सहृदयतापूर्वक अब तक अपनाये रखा है, उन तमाम वरेण्य जनों के प्रति मैं आंतरिक आभार प्रकट करता हूँ। मेरा विश्वास है, इस शिखा के लिए सहयोग में उठे हजारों हाथ हमें बराबर शक्ति प्रदान करते रहेंगे।

आज 'विवेक शिखा' के प्रकाशन की जितनी आवश्यकता है, उतनी शायद इसके पहले कभी नहीं थी। विवेक शिखा का अर्थ है भगवान् श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ सारदा देवी की ईश्वरीय चेतना का स्वर-वितान, स्वामी विवेकानन्द की दैवी वाणी का, अग्नि-मंत्र का, विद्युत संगीत का जन-गण को दिया गया दिव्य अनुदान।

आज देश टुकड़े-टुकड़े होने को उतावला है। भारत की अखंडता पर प्रश्न चिह्न लग रहे हैं। पंजाब, आसाम, कश्मीर, झारखंड आदि क्षेत्रों से पृथकता की तीव्र माँगें उठ रही हैं। उच्च और निम्न जाति के बीच आरक्षण की समस्या को लेकर तनाव व्याप्त है। हमारे चिन्तन की दृष्टि संकीर्ण होती जा रही है। उदारता और प्रेम का अभाव सर्वत्र दिखाई दे रहा है। हम एक-दूसरे से घृणा करने लगे हैं। भारतीयता मिटती जा रही है और क्षेत्रीयता पाँव फैलाने लगी है। एक गहरे अंधकार से हम घिर गये हैं। प्रकाश की किरण कहीं दिखाई नहीं पड़ती।

ऐसी स्थिति में विश्ववंद्य स्वामी विवेकानन्द की ओर हमें मुड़ना ही होगा। सुनिए उनकी आत्मिक पुकार—"ऐ वीर ! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सब मेरे भाई हैं। भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरी जवानी की फुलवारी, मेरा पवित्र स्वर्ग

और मेरे बुढ़ापे की काशी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है .....।"

अगले--पिछड़े के नाम पर, आरक्षण के नाम पर आज जो आत्मदाह हो रहे हैं, घृणा का वातावरण बुना जा रहा है उसका मूल कारण है सही शिक्षा का अभाव और उच्च जातियों द्वारा निम्न जाति के लोगों पर हजारों वर्षों से किये गये अत्याचार। स्वामीजी ने उच्च जाति के लोगों को सतर्क करते हुए आज से प्रायः बानवे वर्ष पूर्व सन् १८९८ में कहा था . "तुम लोगों ने इतने दिन इन सब सहनशील नीची जातियों पर अत्याचार किया है। अब ये लोग उसका बदला लेंगे और तुम लोग 'हाँ ! नौकरी, 'हाँ ! नौकरी' करके लुप्त हो जाओगे।"२ क्या आज यहीं स्थिति नहीं हो गयी है ?

तो फिर उपाय क्या है ? दिशा-निर्देश करते हुए स्वामीजी एक बीज मंत्र देते हैं—"तुम लोग ऐसे काम में लग जाओ, जिससे साधारण श्रेणी के लोगों में विद्या का विकास हो। जाकर उन्हें समझाकर कहो—'तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो। हम तुमसे प्रेम करते हैं, घृणा नहीं।' तुम लोगों को यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही साथ धर्म के गम्भीर तत्व इन्हें सिखा दो। उससे शिक्षकों की भी दरिद्रता मिट जायगी और इस प्रकार के आदान प्रदान से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायेंगे (वि० सा० खंड ६, पृ० १०७)

यदि उच्च जाति के लोगों में निम्न जातियों के प्रति सहानुभूति की भावना नहीं जगेगी तब तो मारकाट होती ही रहेगी। स्वामीजी ने इसे आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व स्पष्टरूप से लक्ष्य कर लिया था। जातिगत विद्वेष के मूल में आज इसी सहानुभूति का अभाव है। स्वामीजी ने सिंह गर्जन करते हुए अपने एक शिष्य से कहा था—"ऐसा (सहानुभूति) न होने से तुम्हारा (उच्च जातियों का) भला नहीं। तुम लोग हमेशा से जो कुछ करते आ रहे हो, वह तुम्हारा पृथकता का प्रयत्न रहा है। आपस की मार-काट करते हुए ही मर मिटोगे ! ये निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होनेवाले तुम लोगों के अत्याचारों को समझ लेंगे तब उनकी फूँक से ही तुम लोग उड़ जाओगे ! उन्हीं ने तुम्हें सभ्य बनाया है, उस समय वे ही सब कुछ मिटा देंगे। इसीलिए कहता हूँ, इन सब निम्न जाति के लोगों को विद्यादान, ज्ञानदान देकर उन्हें नींद से जगाने के लिए सचेष्ट हो जाओ ! जब वे लोग जागेंगे - और एक दिन वे अवश्य जागेंगे---तब वे भी तुम लोगों के किए उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति कृतज्ञ रहेंगे।"३

भारत जातिवाद के रोग से ग्रस्त हो गया है। जाति प्रथा तो वैज्ञानिक है, किन्तु यदि जाति का भाव भेद उत्पन्न करता हो तो वह समाज के लिए बड़ा घातक होगा। आज यही स्थिति उत्पन्न हो गयी है। स्वामीजी ऐसी जाति-प्रथा का विरोध करते हुए दर्द भरे स्वर में कहते हैं—"मेरे मन में दिनोंदिन यह विश्वास बढ़ता चला जा रहा है कि जाति का भाव सब से अधिक भेद उत्पन्न करने-वाला और माया का मूल है—सब प्रकार का जाति-भेद, चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, बन्धन ही है। कुछ मित्र यह उपदेश देते हैं, सब है, मन में ऐसा ही समझो, परन्तु व्यावहारिक जगत में जाति जैसे भेदों का रहना उचित ही है।' मन में एकता का भाव (कैसी आत्मवंचना !)---और बाह्य जगत में राक्षसों का नरक-नृत्य—अत्याचार और उत्पीड़न—दरिद्रों के यम ! परन्तु यदि उस अछूत के पास पर्याप्त धन हो तो 'अरे, वह तो धर्म का रक्षक है !!!'....पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं, परन्तु ईश्वर द्वारा प्रकट की हुई पुस्तकों में नहीं।"४

जो ब्राह्मणवाद समाज को जर्जर और दुर्बल करता हो, उसे समूल विनष्ट हो ही जाना चाहिए। इसी में मंगल है। इसी से मृगेन्द्र की भाँति गर्जन करते हुए स्वामीजी कहते हैं -"मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान जो मुझे यहाँ पर अन्न नहीं दे सकता, स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा। राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को खिलाना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम ऐटलाण्टिक महासागर में जा गिरे। ब्राह्मण हो या संन्यासी - किसी की बुराई को क्षमा न मिलनी चाहिए। पौरोहित्य की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे।" (पत्रावली: प्रथम भाग: पृ० २११) लेकिन जातिगत समानता के लिए रक्तपात या खूनी क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। हमें समाज का सहज विकास करना होगा। स्वामीजी कहते हैं—"यह अवस्था धीरे-धीरे लानी पड़ेगी– अपने धर्म पर अधिक जोर देकर और समाज को स्वाधीनता देकर यह करना होगा। प्राचीन धर्म से पौरोहित्य की बुराइयों को उखाड़ दो। तभी तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म मिल जायगा।"५

यहाँ हमें यह ध्यान में रखना होगा कि स्वामीजी पौरोहित्य के दुर्गुणों का विरोध करते हैं, ब्राह्मणों का नहीं। वे चाण्डाल या शूद्र को ब्राह्मण के स्तर पर लाना चाहते हैं, ब्राह्मण को नीचे गिराना नहीं चाहते। वे तो बस इतना चाहते हैं कि "चाण्डाल के लिए शिक्षा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण के लिए नहीं। यदि किसी ब्राह्मण के पुत्र के लिए एक शिक्षक आवश्यक हो तो चाण्डाल के लड़के के लिए दस शिक्षक चाहिए। कारण यह है कि जिसकी बुद्धि की स्वाभाविक प्रखरता प्रकृति के द्वारा नहीं हुई है, उसके लिए अधिक सहायता करनी होगी।"६

इसलिए आज जरूरत है कि समाज का हर वर्ग उदारता सम्पन्न होकर प्रेमपूर्ण हृदय से एक दूसरे को गले लगाते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर हो। इसी में राष्ट्र का और हम सब का मंगल है, कल्याण है और सम्वर्द्धन है। हमें स्वामीजी के इस अग्नि मंत्र को, इस विद्युत-संगीत को कान खोलकर सुनना होगा—"सब प्रकार का विस्तार ही जीवन है और सब प्रकार की संकीर्णता मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकोच। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है। जो प्रेमिक है, वही जीवित है; जो स्वार्थी है, वह मृतक है: जबकि प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है, अतः जैसे श्वास-प्रश्वास लिए बिना जीवित नहीं रहा जा सकता, वैसे ही प्रेम के बिना जीवनधारण भी असम्भव है और इसीलिए अहेतुक प्रेम आवश्यक है।"७

अतएव, मेरे मित्रो, आइए, हम सब स्वामीजी की अग्निदीप्त वाणी का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर स्वयं को, अपने समाज को और अपने राष्ट्र को सबल, समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने में समर्थ हों। सामाजिक समता और न्याय का एकमात्र यही उपाय है। स्वामीजी के अग्नि मंत्र से हम सब अभिषिक्त हों– यही उनसे मेरी आन्तरिक प्रार्थना है। जय स्वामीजी!!

संदर्भ

१-विवेकानन्दजी के संग में—पृ० २४
२-विवेकानन्द साहित्य—षष्ठ खंड :पृ० १०६
३-वही ... ... पृ० १०८
४-पत्रावली, द्वितीय भाग—पृ० ९५-९६
५ पत्रावली प्रथम भाग – पृ० २१२
६- वही ... ... पृ० ४०५
७ वही, पृ० ४०६

ईश्वर-प्राप्ति के उपाय

—श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज

[रामकृष्ण मठ एवं मिशन के वर्त्तमान महाध्यक्ष पूजनीय श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज द्वारा रामकृष्ण मिशन, शिलाँग में गत १३ नवम्बर १९८८ को प्रदत्त प्रवचन को बंगला मासिक पत्रिका उद्बोधन की शारदीया संख्या (सितम्बर, १९९०) "भगवानलाभेर उपाय" शीर्षक से प्रकाशित किया गया था। उसी का हिन्दी रूपान्तर पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। रूपान्तरकार हैं--डॉ० केदार नाथ लाभ – सं० ।]

भक्तगण अक्सर हमसे पूछते हैं, जप-ध्यान में मन नहीं लगता, क्या करें ? यह प्रश्न हम में से अनेक लोगों के मन में उठता है। इसके उत्तर में हम कहते हैं, मन एक ऐसा यन्त्र है कि इसका जिस रूप में व्यवहार करें यह उसी रूप में कार्य करता हैं। चौबीस घंटों में हमलोग कितनी देर जप-ध्यान करने की चेष्टा करते हैं और कितनी देर दूसरे कामों में व्यय करते हैं, इसे सोचना होगा। मन सर्वदा जिस विषय का चिन्तन करता है, जप-ध्यान में बैठने पर भी उसी विषय का प्रस्फुटन होगा, यही स्वाभाविक है। इसी से जप-ध्यान में बैठने पर भगवान की बात मन में नहीं आती, मन उन पर स्थिर नहीं होता।

किन्तु इसका प्रतिकार क्या है ? प्रतिकार का एक सीधा उपाय है मन को कुछ और अधिक समय तक ईश्वर के चिन्तन में नियोजित रखने की चेष्टा करना। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, मन कैसा है जानते हो ? जैसे धोबी के घर का कपड़ा। उसे जिस रंग में डुबा रखोगे वह उसी रंग में रंगा जायगा। मन को यदि अधिक काल तक सांसारिक चिन्तन में लगाये रखें तो ध्यान जप के समय वही चिन्तन चलेगा। इसी से उपाय हुआ,जितना अधिक सम्भव हो ईश्वर चिन्तन का अभ्यास करना। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि हरदम मन को थोड़ा ईश्वर की ओर लगाये रखना होगा। जिससे मन में स्थायी रूप से भगवान का चिन्तन चलता रहे, इसका प्रयास करना होगा। हमलोगों के मन में यह प्रश्न उठेगा कि ऐसा होने पर सांसारिक काम-काज कैसे चलेंगे ? श्रीरामकृष्ण ने कहा है, "यदि चौदह आना मन भगवान में लगाये रखकर दो आने मन से संसार के काम करो तो पार लग जायगा।" लेकिन हमलोग ठीक इसके विपरीत ही करते हैं ! चौदह आना या पन्द्रह आना मन संसार में लगाये रखते हैं और दो-एक आना मन से ईश्वर का चिन्तन करना चाहते हैं। कोई भी मूल्यवान वस्तु आसानी से नहीं पायी जाती और पृथ्वी की सबसे मूल्यवान वस्तु को क्या इतनी सहजता से पाया जा सकता है ? इसलिए प्रभु का चिन्तन करने के लिए मन को उनकी ओर, सदैव संभव न हो तो सबसे अधिक समय तक लगाये रखना होगा। इससे संसार के कार्यों में बाधा नहीं उत्पन्न होगी, बल्कि—कार्य और भी अधिक सुन्दर ढंग से सम्पन्न होंगे। ईश्वर की ओर मन लगाये रखने पर मन में स्वार्थपरता नहीं आयगी। और कार्य जब निः स्वार्थ भाव से किया जयगा तब कार्य यथोचित होगा। इसके लिए जरूरत है एक आग्रही मन की, जो भगवान का चिन्तन करना चाहेगा, इसके लिए चेष्टा करेगा, तथा यह कहने की आवश्यकता

नहीं है कि उस चेष्टा के साथ-साथ संसार के कार्य भी चलते रहेंगे। इसका अभ्यास करना होगा। किसी खास समय जप करने बैठा, कुछ देर चेष्टा की, अच्छा नहीं लगा, उठ गया। इससे काम नहीं चलेगा। असली बात है, ईश्वर के काम में रुचि होने की आवश्यकता। किन्तु रुचि कैसे होगी ?

अरुचिकर को रुचिकर बनाने के लिए मन को उस ओर संचालित करने की चेष्टा करनी होगी। चेष्टा करते-करते धीरे-धीरे रुचि आती है। किसी व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण से कहा, संसारी लोगों की क्या कोई गति नहीं ? 'संसारी' कहने का अर्थ केवल वे ही नहीं जो विवाह करके गृहस्थ हुए हैं बल्कि जो भी लोग संसार को लेकर लिप्त हैं उनकी बात कहता हूँ। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, उपाय है क्यों नहीं ? अवश्य ही है। उपाय क्या है यह भी कहा—ईश्वर के नाम का गान करना, साधुसंग करना, और बीच-बीच में निर्जन में जाकर ईश्वर चिन्तन करना। ईश्वर के नाम का गान करने का अर्थ है ध्यान-जप, पूजा-अर्चना करना, देवस्थान जाना, देव सेवा के कार्य करना। साधु-संग का अर्थ है जो भगवान का चिन्तन करते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनका संग करना। फिर संग करने का अर्थ है उन लोगों के निकट जाकर बैठे रहना नहीं बल्कि उन लोगों के भावों को ग्रहण कर, उनकी जीवनचर्चा का अनुसरण करना। ऐसा नहीं होने से साधु संग नहीं होता। तीसरा उपाय है बीच-बीच में निर्जन वास। संसार में बसकर अन्य चिन्तन करने का अवकाश नहीं मिलता। इसी से बीच-बीच में थोड़ा निर्जन में वास करने की जरूरत है। हमलोग अवकाश पाने पर संभवतः दार्जिलिंग जाते हैं या किसी अन्य दर्शनीय स्थान को देखने जाते हैं। और यदि कभी तीर्थ जाते हैं तो तीर्थ का विचार नहीं रहता, कहाँ अच्छी जगह पर रह सकूँगा, कहाँ अच्छी वस्तुएँ पायी जायेंगी इन्हीं सब विचारों को लेकर ही समय व्यतीत हो जाता है। इसी से तीर्थ जाने पर भी भगवान का चिन्तन नहीं होता। इस तरह जीवन-यापन करने से भगवान की ओर जाने की प्रवृत्ति नहीं बढ़ेगी। इसी से श्रीरामकृष्ण ने जो कहा है उन सब पर विचार करना होगा।

पहले जो कहा, ईश्वर के नाम का गान करने का अर्थ है ईश्वर का चिन्तन, उनकी पूजा—ये सब भक्ति-लाभ के उपाय हैं। श्रीरामकृष्ण इसको वैधी भक्ति कहते हैं। वैधी भक्ति का अनुष्ठान करते-करते क्रमशः ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। भागवत में एक श्लोक है—"भक्त्या सञ्जातया भक्ति"—भक्ति के द्वारा भक्ति उत्पन्न होती है। वैधी भक्ति के द्वारा रागात्मिका भक्ति—अर्थात् ईश्वर के प्रति अनुराग—उत्पन्न होती है और इसके फलस्वरूप शरीर में भक्ति के चिह्न—पुलक, रोमांच अदि प्रकट होते हैं। वैधी भक्ति के द्वारा ईश्वर के प्रीति प्रति होना, यह मानो गुड़िये के खेल की भाँति है। छोटी लड़कियाँ गुड़िया लेकर खेल करती है। गुड़ियों का कोई लड़का, कोई लड़की होती है। अनेक सम्बन्ध होते हैं। उन गुड़ियों को वे खिलाती हैं, कपड़े पहनाती हैं, सुलाती हैं, और फिर गुड़िया यदि टूट जाती है तो रोती हुई उसे प्रवाहित कर देती हैं। खेलते-खेलते उन लड़कियों को गुड़िये के प्रति प्रेम हो जाता है। हमलोगों की पूजा-अर्चना भी भगवान को लेकर मानो गुड़िये का खेल है। भगवान को जीवन्त मानने का बोध उस समय भी आप लोगों को नहीं होता। किन्तु, इस तरह चेष्टा करते-करते क्रमशः वह बोध होता है। इस प्रकार वैधी भक्ति से रागात्मिका भक्ति उत्पन्न होती है।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है, अनुराग उत्पन्न होने पर चिन्ता नहीं। अनुराग रूपी बाघ काम क्रोधादि को खा जाता है। अर्थात् अनुराग के फलस्वरूप ईश्वर के पथ थर जाने की बाधाएँ दूर हो जायेंगी। हमलोग कहते हैं कि संसार में प्रबल बाधा है। प्रबल बाधा संसार में नहीं, मन में है। मन में अनुराग का संचार होने पर कोई भी बाधा फिर प्रतिरोध नहीं कर पाती। अनुराग नहीं होने से ही

बाधा है। भागवत में है—गोपियाँ गृहकार्य में व्यस्त थीं। उसी समय वन से बाँसुरी की ध्वनि सुनाई पड़ी। भगवान का आह्वान अमोघ है। गोपियाँ जो कार्य करती थीं सब छोड़कर चल पड़ीं। भगवान का आह्वान हुआ है। घर के कार्य करती थीं, सब छोड़कर चल पड़ीं। भगवान का आह्वान हुआ है। घर के कार्य में और मन नहीं लगता क्योंकि, मन तो भगवान की ओर चला गया है।

यह अनुराग कैसे होगा? विधि पूर्वक ईश्वर की सेवा, शुद्ध भाव से जीवन-यापन करते-करते अनुराग होने पर तब संसार की कोई बाधा और रोक नहीं सकती। जैसे गोपियों को गृहकार्य रोक नहीं सका। भागवत में और भी है, किसी गोपी को घर बन्द कर रख दिया गया है। भगवान का आह्वान आया है। वह जा नहीं पाती है। उसने सोचा, मेरे जाने के मार्ग में बाधा क्या है? यह देह। उसी समय देह त्याग कर वह भगवान के समीप चली गयी। ऐसा आकर्षण था कि शरीर तक उसे बाधा नहीं पहुँचा सका। इसी का नाम है अनुराग। यह अनुराग बात की बात में नहीं होता। भगवान का चिन्तन करना होगा। एक गीत में है—

"लेते लेते यह हरिनाम
उर में प्रेम-मुकुल फूटेगा।"

भगवान का नाम लेते-लेते, उनका चिन्तन और जीवन को उसी प्रकार परिचालित करने की चेष्टा करते करते अनुराग आता है। श्रीरामकृष्ण ने कहा है कि जब अनुराग हुआ तब सूर्योदय हुआ। पूरब के आकाश के लाल होने पर समझा जाता है कि सूर्योदय होने में अब देर नहीं है। भगवान के लिए व्याकुलता होने पर कोई बाधक तत्व फिर भक्त को रोक नहीं पाता। हमलोग जो संसार के बाधक तत्वों की बात करते हैं उसका कारण यह है कि हमलोगों में अनुराग नहीं है। मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्ण वचनामृत के लेखक श्री महेन्द्र नाथ गुप्त) ने पूछा कि परिवार यदि भगवान की ओर जाने के मार्ग में बाधक हो तो क्या करूँगा? श्रीरामकृष्ण ने कहा—उसे समझाना, समझाकर उसे अपने भाव में भावित करने की चेष्टा करना। मास्टर महाशय ने पूछा—यदि किसी प्रकार न माने तो क्या करूँगा? श्रीरामकृष्ण ने गम्भीर होकर कहा, तब फिर उसका त्याग करना। मास्टर महाशय स्तम्भित हो गये। कोई एक सहज उपाय कह देने से ही हो जाता, किन्तु यह तो नितान्त चरम उपाय था। मास्टर महाशय सोचते हैं, इतनी दूर तक कैसे जाऊँगा? थोड़ी देर बाद श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा—देखो, जो भगवान के लिए व्याकुल होता है उसे वे (भगवान) सबकुछ अनुकूल कर देते हैं। मास्टर महाशय लिखते हैं, मास्टर की चिन्ता रूपी अग्नि में मानो पानी डाल दिया गया। तो ऐसा होने पर उपाय है। ईश्वर से कातर होकर प्रार्थना करने पर वे समस्त प्रतिकूलताओं को दूर कर देते हैं, सारे बाधा बिघ्न अनुकूल हो जाते हैं। इसीलिए हमलोग जब संसार को दोषारोपण करते हैं तब आत्म समीक्षा नहीं करते, यह नहीं देखते कि दोष संसार का नहीं, अपना है। इन सब बातों पर विचार करना होगा, विचार कर स्वयं को तैयार करना होगा। संसार तो बदलेगा नहीं, जैसा है वैसा ही रहेगा, अपनी दृष्टि को बदलना होगा। भगवान में अनुराग होने से दृष्टि में परिवर्तन होता है। यही हुआ उपाय। वे (भगवान) हमलोगों के हृदय को दैवी सम्पदा से भर दें, जिस सम्पदा के द्वारा उनको पाया जाय। सब कुछ हमलोगों के भीतर है, किन्तु हमलोग यह सब भूलकर अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हैं, उस ओर हमलोगों की दृष्टि नहीं है—श्रीरामकृष्ण की भाषा में, 'खबर' नहीं है।

उपनिषद् की एक कहानी में है कि अमूल्य सम्पदा मिट्टी के नीचे गड़ी है। एक व्यक्ति उस मिट्टी के ऊपर से ही आता-जाता है, किन्तु वह

सम्पदा उसके किसी काम नहीं आती। कारण, उस धन के विषय में वह जानता नहीं है। जानने पर, विदित होने पर वह उसके काम आती। हमलोगों के भीतर भी भगवान के लिए व्याकुलता है, किन्तु संसार की ओर मन को बिखेर देने के कारण वह दब गयी है। बिखरे हुए मन को समेट लेना बड़ा कठिन है। उसके लिए चेष्टा करने का नाम ही साधना है। जो मन संसार में बिखर गया है उसे क्रमशः खींच कर भगवान में स्थिर करने का प्रयास ही साधना है। यह अकस्मात नहीं होगा। उपनिषद् में है कि धीरे-धीरे मन को विषय से विरत करना होगा। यह सहसा नहीं होगा, धैर्यपूर्वक करना होगा। इसके द्वारा मन क्रमशः भगवान की ओर जायगा। और इसके साथ ही उस पथ पर जाने की प्रेरणा भी आयेगी। जाने के उपाय के सम्बन्ध में धारणा होगी।

एक दिन उदबोधन के 'मायेर बाड़ी' (जहाँ श्री माँ सारदा देवी दीर्घ काल तक रही थीं) में एक नवागत भक्त ने स्वामी सारदानन्द महाराज को कहा, मैं साधुसंग करने आया हूँ। उन्होंने उस भक्त से कहा, बच्चा, दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के साथ अनेक कर्मचारी वर्षों तक रहे हैं। तथापि उन लोगों के जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन हुआ है, ऐसा नहीं देखा जाता। अतएव तुम आज आकर साधु-संग कर उसका फल जेब में भर कर ले जाओगे, ऐसा करके साधु-संग नहीं होता। साधु संग का अर्थ केवल साधु के निकट रहना या उनके निकट जाना नहीं, बल्कि उनके आदर्श को ग्रहणकर उनके जीवन का अनुसरण करने की चेष्टा करना है।

जिनके निकट जाने पर भगवद्भाव का स्फुरण हो, वे ही साधु हैं। वे जिस भाव में निमग्न हैं, उनके सम्पर्क में जो लोग आते हैं उनके भीतर भी उसी भाव का संक्रमण होता है। इसी कारण साधु संग फलदायी होता है। साधुगण साक्षात् दृष्टान्त हैं। उन लोगों को दृष्टान्त नहीं रहने पर भगवान के अस्तित्व में मनुष्य को विश्वास ही नहीं होगा। भगवान को हमलोगों ने देखा नहीं, सुना नहीं। ग्रंथों में लिखा रह सकता है, किन्तु पुस्तकों के भीतर प्राण नहीं होते। वह भाव हमारे काम नहीं आता। साधु के जीवन में भगवान का भाव सजीव होता है, स्पष्ट होता है। इसी से श्रीरामकृष्ण ने साधु-संग करने को कहा है।

किन्तु इस प्रेरणा को ग्रहण करने के लिए आकांक्षा चाहिए। साधु का अनुसरण करने का उद्देश्य लेकर साधु संग नहीं करने पर साधु संग फलप्रद नहीं होता, साधु के पास जाकर विनीत भाव से रहकर उनके जीवन के आदर्शों से जो शिक्षा मिलती है उस शिक्षा को ग्रहण करने की चेष्टा का नाम है साधु संग। साधु में भगवत् भाव मूर्त रहता है। इसीसे उनका संग प्राप्त होनेपर उस के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न होता है, मन में प्रेरणा जगती है एवम् उनका अनुसरण करने की इच्छा होती है। एक श्लोक है---"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्"— ज्ञानी व्यक्ति विष्णु के परमपद को आकाश में विस्फारित नेत्रों की भाँति सर्वदा देखते हैं। इस बात का तात्पर्य यह है—एकाध व्यक्ति को कभी यदि देख पायें तो उनसे प्रेरणा मिलेगी, मन में विश्वास होगा कि निश्चय ही भगवान हैं। नहीं तो इस व्यक्ति का जीवन कैसे इस प्रकार रूपायित हो गया?

साधु भगवान को लेकर हैं इससे हमें क्या लाभ? हमें यह लाभ है कि उन्हें देखकर हमें विश्वास होगा कि भगवान हैं, भगवान का चिन्तन करने से हमारा जीवन इनकी भाँति परिवर्तित हो जा सकता है। साधु क्या कहते हैं, किस प्रकार जीवनयात्रा का निर्वाह करते हैं इत्यादि को देखकर उस पथ पर चलने की प्रेरणा और निर्देश का लाभ होता है। इसी से साधु संग नहीं होने पर भगवान में विश्वास नहीं होता। विश्वास होना बड़ा कठिन है। जिस वस्तु को कभी देखा नहीं, जाना नहीं,

उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह रहेगा ही। किसी-किसी व्यक्ति के जीवन में जब उनका (प्रभु का) स्पष्ट प्रकाश हम देखते हैं, भगवान का चिन्तन करने पर जीवन किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, यह लक्ष्य करते हैं तब मन में होता है कि यही आदर्श है। जैसे बुद्धदेव जरा, व्याधि, मृत्यु को देखकर अभिभूत हुए थे। तदुपरान्त इनसे उद्धार के उपाय की खोज करते हैं, उसी समय एक संन्यासी को देखकर प्रभावित हुए। यही तो! दुःखमय संसार में भी मनुष्य इस प्रकार आनन्दमय हो सकता है। तब उन्होंने उसी पथ का अनुसरण कर गृहत्याग किया। साधु संग का यही परिणाम होता है।

श्रीरामकृष्ण ने तीसरा उपाय बताया है—बीच-बीच में निर्जन वास। ईश्वर को भूलकर रहते-रहते हमलोगों को ऐसा अभ्यास हो गया है कि संसार के स्वरूप के सम्बन्ध में हमलोगों को अनुभूति नहीं है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) ने जैसा कहा है, कोई-कोई मछली जाल में फँस जाने पर कीचड़ में मुँह घुसाकर सोचती है कि अच्छी तरह हूँ। वह जानती नहीं कि मछुआरा इसी क्षण उसे हड़हड़ाकर धरती पर खींच लेगा और उसके प्राण चले जायेंगे। यह हुआ बद्ध जीव। इसीसे निर्जन में जाकर हमलोगों को सोचना होगा कि जीवन का उद्देश्य क्या है? किस प्रकार हम जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बीच-बीच में संसार के बाहर नहीं जाने पर संसार की नश्वरता का अनुभव करने की फुर्सत नहीं रहती। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—"अनित्यमसुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्॥ (९/३३)—यह संसार अनित्य है, दुःखमय है, यहाँ आकर मेरा भजन करो। हमलोगों को क्या यह बोध हुआ है? नित्य हम देखते हैं कि सब कुछ चले जाते हैं, क्षय होता है, कितने लोग अपने आत्मीय-स्वजन को खोकर दुःख से हाहाकार करते हैं, और हम सोचते हैं कि उन लोगों को हुआ है, हमें नहीं होगा। अनित्यता का बोध नहीं होता। सुख में भी बोध नहीं होता और दुःख में भी नहीं। इसलिए, निर्जन में जाकर जीवन के पन्नों को उलट-पलट कर देखकर यदि उसकी निस्सारता का चिन्तन करना सीख लें तभी हम ठीक-ठीक समझ पायेंगे कि जगत् अनित्य है। अतः इससे मन को हटा रखने के कारण हमलोग परमार्थ से भ्रष्ट हो गये हैं। संसार की नश्वरता और दुःखमयता का बोध होने पर संसार हमलोगों के मन को और आकृष्ट नहीं कर सकेगा। ऐसा नहीं है कि सभी संसार को छोड़कर चले जाएँगे, किन्तु संसार के प्रति जिस तीव्र आसक्ति ने भगवान को भुला रखा है और आसक्ति संसार के भयावह रूप को समझने नहीं देती—जैसे गलित शव फूल से ढँका रहता है—इसे समझने पर तब संसार के प्रति मन का आकर्षण और नहीं होगा। ऐसा होने पर क्या संसार का लोप हो जायगा? लोप कहाँ होगा? जो संसार के सार पदार्थ हैं उनकी ओर जब मन जायेगा तभी हमलोगों को पथ मिल जायगा। इस प्रकार चेष्टा करने पर मन संसार में और निरत नहीं रह पायेगा, ईश्वर के लिए छटपट करेगा। यही तो व्याकुलता है। यह व्याकुलता जब आयेगी तब हमलोगों को और कोई संसार के सुख-भोग में रोक कर रख कर नहीं पायेगा, उस होमा पक्षी की भाँति हमलोग अत्यंत तीव्र वेग से भगवान की ओर दौड़ पड़ेंगे। इसके पहले तक जाना मात्र एक बाहरी वेशभूषागत (पोशाकी) चेष्टा मात्र है। पोशाकी धर्म से काम नहीं चलेगा। व्याकुलता आने पर ईश्वर ही सत्य लगेंगे। सांसारिक वस्तु को तुच्छ समझकर भगवान को सार वस्तु नहीं समझने तक कोई कार्य नहीं होगा, गृहस्थ का भी नहीं, संन्यासी का भी नहीं।

स्वामी विवेकानन्द और आधुनिक बुद्धिजीवी

लेखक—स्वामी तथागतानन्द
अनुवादक—ब्रह्मचारी रवीन्द्र,
रामकृष्ण मठ, पुणे

दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण की शान्त तपस्या हमारे धर्म में निहित गुप्त आध्यात्मिकता की बुझती हुई अग्नि को भड़काकर उसे प्रचण्ड ज्वाला में परिणत कर रही थी। उन्होंने आध्यात्मिकता के अथाह सागर में डुबकी लगायी एवं उन अनेक बहुमूल्य रत्नों को, जो अब तक इस भवरोग ग्रस्त अज्ञेयवादी संसार के लिए अनभिज्ञ थे, भेंटस्वरूप देने में वे समर्थ हुए थे। युग की आवश्यकतानुसार त्रस्त मानवजाति को युगपूर्व सन्देश के प्रचार हेतु स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रशिक्षित हुए थे। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के अपने ऐतिहासिक व्याख्यान में मानव की आध्यात्मिक सम्पदा पर विस्तृत प्रकाश डाला था।

वह एक विलक्षण व्यक्तित्व था जो दिव्य सुगन्ध से सुवासित था। पश्चिमी गोलार्ध का भ्रम-ग्रस्त जनसमुदाय उनमें अतीन्द्रियता के प्रकाश के साथ मृदु उदात्तता एवं नम्र विद्वत्ता को पाकर स्तम्भित हो गया। हिन्दुत्व-सम्बन्धी उनके स्पष्टीकरण ने अनेक भ्रान्त धारणाओं को निर्मूल कर दिया कि वह विश्वासों का अजायबघर एवं अनेक संस्कारों का संकीर्ण संकलन है। उनके प्राणदायी सन्देश—मनुष्य मांस का गट्ठरमात्र नहीं है, अपितु वह शरीर का आवरण लिए हुए आत्मा है—ने जड़वाद से आतप्रोत मानवों के मस्तिष्क में एक नयी आशा जगायी।। उनका गर्जनापूर्ण आह्वान—"ऐ पृथ्वी की दिव्यताओ"—ने यातनापूर्ण मानवता के लिए आनन्द, आशा, पौरुष एवं मुक्ति का सन्देश पहुंचाया। हम उस ऐतिहासिक घटना की मानसिक प्रतिध्वनि में आज भी जी रहे हैं।

न तो वे कोरे आदर्शवादी थे न पृथ्वी-बद्ध दार्शनिक और न केवल सुधारक ही। वे पूर्णतया एक सत्यवादी थे एवं इसलिए उनके सन्देश व्यापकता लिए हुए अत्यन्त व्यावहारिक हैं। जो दिव्यता सर्वभूतों में अस्पष्टतया वास करती है उन्होंने उस सत्य का साक्षात्कार किया था। उन्होंने मानव के आध्यात्मिक चैतन्य को जाग्रत किया एवं दीन-दरिद्रों के दुःख को कम किया था। उन्होंने सामाजिक ढाँचे की जड़ को सत्य, स्वतन्त्रता एवं समता के आदर्श पर स्थापित करने का हमसे आग्रह किया है। उनके आदर्श मात्र शब्द नहीं है। उनका, व्यावहारिकता की बलिवेदी पर शिरश्छेद नहीं किया जा सकता। उन्होंने कर्मयोग में कहा है, "प्रेम, सत्य एवं निःस्वार्थता मात्र आदर्शरूप अलंकार नहीं है, बल्कि वे एक उच्चादर्श स्थापित करते हैं क्योंकि उनमें इस तरह शक्ति को अभिव्यक्त करने की क्षमता विद्यमान है।"

संसार स्वामीजी के लिए सत्यवस्तु था, न कि एक भ्रान्तिमात्र क्योंकि उन्हें अपने जीवन के कर्मक्षेत्र—अर्थात् मानव की सेवा, में इस आदर्श की पूर्णता प्राप्त करना था। वे अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रयत्नों की पराकाष्ठा देखने के लिए तत्पर थे। आध्यात्मिकता तो उनका प्राण ही थी। उन्होंने कहा था, "अनन्त की ओर संघर्ष किए बिना अन्य कोई आदर्श हो नहीं हो सकता।" पुनश्च उन्होंने कहा, 'बिना अतिप्राकृतिक नियम के जैसा कि वह कहलाया जाता है अथवा अति-

चैतन्य के आकलन के, जैसा कहना मैं अधिक पसन्द करता हूँ, कोई नैतिकता हो ही नहीं सकती।"

असीमित दायरों के उनके लोकव्यस्त जीवन के विरुद्ध, कल्पना की उत्कृष्टता, भाव की गहराई, बुद्धि की तीक्ष्णता एव विविधता जो उनमें पायी जाती हैं, वे नितान्त अतिमानवी हैं। आत्मा की अलौकिकता, एकात्मता का अस्तित्व एवं विविधता में एकता—ये उनकी शिक्षा के प्रमुख अंग थे। मानव-जीवन का उद्देश्य अन्तर्निहित अलौकिकता को उजागर करना है। यदि हम अपनी मूर्खता एव स्वार्थपरता से पटे न होंगे तो निश्चय ही हम उनके सन्देशों से स्पष्ट जान सकेंगे कि हम एक विश्वव्यापी कार्यशीलता में जीते हैं—जिसका जड़ से जीवन में, जीवन से मन में, मन से बुद्धि मे, बुद्धि से आत्मा मे सनातन रूप से क्रमविकास होता है एवं जो एक निश्चित क्रम एवं उद्देश्य के अधीन है। हमारा पुनर्जागरण होना चाहिए, शुष्क बुद्धिवाद से आध्यात्मिकता में, न्यायबुद्धि से उदारता में, अधिकारवाद से प्रेम में। यह अति विलक्षण अनुसन्धान है, अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण का नवीन पथप्रदर्शक है।

भ्रान्ति एवं अज्ञेयवाद के मेघ धर्म के सूर्य को ढँक नहीं सकेंगे। मानव जीवन ने अचानक ही नयी गति एवं मूल्य पाया। उच्च धर्मोपदेशकों, वैज्ञानिकों, भौतिकवादियों एवं राष्ट्रीय उच्चाधिकारियों की प्रतिज्ञाएँ सूर्योदय के समय दीपों के सदृश निस्तेज हो गयीं एव जीवन का एक नया दृष्टिकोण लिए हुए, आध्यात्मिकता के आधारभूत हो संसार के बौद्धिक क्षितिज पर दावानल के समान पसर गयीं।

लोगों ने सुखभोगियों द्वारा स्थापित सांसारिक मापदण्डों की ओर दुलक्ष्य किया तथा स्वय को देवदूतों की अतीन्द्रियताओं एवं ईश्वरीय आज्ञा पर अवलम्बित किया। उनके बल, विश्वास, शक्ति एवं दृढ़ एकता के सन्देश ने देश के मरणोन्मुख में नया जीवन संचारित किया। उनका शक्तिशाली व्यक्तित्व भारतीयों के लिए एक उद्दाम आकर्षण था। रोमाँ रोलाँ के शब्दों में, 'स्वामी विवेकानन्द स्वयं ही भारत की चेतना, उसकी एकता एवं लक्ष्य थे। ये सब उन्हीं से आविर्भूत हुए थे। वे हमें पश्चिमी सभ्यता से विलग नहीं रखना चाहते थे। वे एकात्मीकरण के अग्रणी नायक थे। उन्होंने कहा था,--"भारत को पश्चिम से बाह्य प्रकृति को जीतना सीखना है एवं पश्चिम को भारत से अन्तः प्रकृति को ... कहीं भी कोई हिन्दू या यूरोपियन नहीं होंगे .. सिर्फ ऐसी आदर्श मानवता होगी जिसने इन दोनों प्रकृतियों को जीत लिया हो। हमने मानवता के एक पहलू का विकास किया है तो उन्होंने दूसरे का। इन दोनों का समन्वय ही है, जो वांछनीय है। क्या तुम पाश्चात्यों से भी पाश्चात्य हो सकते हो -- समता, स्वतन्त्रता, कर्म एवं शक्ति के मूल्यों में तथा उसी क्षण क्या हिन्दू भी रह सकते हो जिसकी रीढ़ में धार्मिक संस्कृति एवं तत्सम प्रवृत्ति हो?"

आत्म साक्षात्कार पर आधारित स्वामीजी की व्यावहारिक शिक्षण पद्धति ने लगभग सभी को प्रभावित किया। रोमाँ रोलाँ के लिए 'वे मूर्तिमान शक्ति थे एव क्रियाशीलता ही मनुष्यों के लिए उनका सन्देश था।' परन्तु स्वभावतः ही उनकी सर्वोत्कृष्टता राजवैभव सम्पन्न थी। वे जन्मजात एक सम्राट थे एव चाहे भारत हो अथवा अमेरिका कोई भी उनके निकट उनके इस राजसुलभ वैभव के प्रति समुचित श्रद्धा दर्शाए आ न सका। दुर्भाग्यवश, हमारे शिक्षित वर्ग ने आज भी उनके शब्दों के प्रति दुर्लक्ष्यता दर्शायी है, जो हमारे इस अन्धकारमय युग में दीपस्तम्भ माने जा सकते हैं।

हमारे देश के विद्वान अब भी, गुलामी वृत्ति से विमुक्त नहीं हुए हैं। उनकी दिग्भ्रमित बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता संकीर्ण विचारधारा ने हमें संकटमय स्थिति पर ला खड़ा किया है। हमारे देश की

सांस्कृतिक बद्धता तथा मौलिक विचारशक्ति के अभाव के कारणवश हो, ये बुद्धिवादी आज भी ग्रन्थ-कीट एवं किताबी शिक्षण के सग्रहालय बने बैठे हैं। उनकी मेघाच्छादित बुद्धिमत्ता एव संकीर्ण वृत्ति के लिए मानव-जीवन का वैभव एवं मानव की आध्यात्मिक सम्पदा सुदूरवर्ती एवं असत्य वस्तु है। व कट्टर रूप से अर्वाचीन हैं एव मानो कि व अन्य किसी से भी मार्गदर्शित नहीं होना चाहते सिवाय उनके तथाकथित पालकों के जैसे फ्रॉयड, मार्क्स, डार्विन एव उनके विश्वासी अनुयायियों के जो बृहत्तर रूप से जड़वाद के वशीभूत थे। जो भी हो, समय के साथ वे अपनी अत्याधुनिक असत्यता-पूर्ण मूर्खता के लिए हास्यास्पद रूप से असत्य सिद्ध हो गये हैं। इन बुद्धिवादियों के मस्तिष्क ऐसे अनिष्टकारी मतवादों से चिपटे रहते हैं।

यह बड़े खेद का विषय है कि जिस वैदुष्य ने १९वीं सदी के हमारे देश के बौद्धिक दिग्गजों को मोहित कर दिया था एव जिसने रूस सहित पाश्चिमी विद्वानों की कल्पनाशक्ति को उद्वेलित कर दिया था, हमारे ही शिक्षित वर्गों के हृदय को जीवन में दुःखमय रूप से असफल सिद्ध हुआ है।

पण्डित नेहरू को उनके सन्देश अब भी ताजगी भरे एव हमारी सभी मुश्किलों का निवारण करने की क्षमता रखने वाले हैं। रोमां रोलां के अनुसार— शरीर में विद्युत्स्पर्श-के-से आघात की सिहरन का अनुभव किए बिना उन्हें पढ़ा ही नहीं जा सकता। तब भी हमारा शिक्षित वर्ग उन्हें पढ़ने की परवाह नहीं करता, कैसी धोर विडम्बना है।

भौतिकवादी सभ्यता के विरुद्ध स्वामीजी धार्मिक युद्ध करने हेतु प्रवृत्त हुए थे। पूरा पश्चिमी गोलार्द्ध एक ज्वालामुखी पर खड़ा है जिसका कल ही ध्वस हो जायगा, जो कल ही टुकड़े-टुकड़े हो जायगा।' वे उन घटनाओं की पार्श्वभूमि में खड़े थे जिनके होने में अभी काफी विलम्ब था। इतिहास ने उन ईश्वरीय वाणी को कष्टपूर्वक साक्षी होकर पूर्ण होते देखा है। आज अर्नाल्ड टाएनबी, बर्टेण्ड रसल, सी. ई. एम. जोड, पी. ए. सोरोकिन, लुईस मम्फर्ड एवं अन्य बहुसंख्यक विद्वान मनःपूर्वक जीवन संबंधी स्वामीजी की योजनाओं का मृत्यु-पाश से मुक्त होने हेतु आश्रय लेने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा अपनी अबाध शक्तियों को जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर अवलम्बित करना चाहते हैं। परन्तु हमारे शिक्षित सभ्य लोगों का आदर्श, व्यापक तौर पर, अब भी जानकारी हेतु 'फॉस्ट की आसुरी तृष्णा' एवं भौतिक सुखलाभ की इच्छा ही है। उनका लौकिक दृष्टिकोण एवं भौतिक वस्तुओं पर वासनाओं ने उन्हें एक ऐसी दुनिया में जीने के लिए बाध्य किया है जो ध्वंसात्मक आशाओं, वैफल्य, विषण्णता एव भ्रान्त-धारणाओं पर स्थित है। प्रयोगवाद एव तर्कवाद के राज्य का उनके मस्तिष्क पर आधिपत्य है तथा अतीन्द्रिय मूल्यों की मर्यादा का वे उल्लघन कर चुके हैं। शिक्षित समाज में विफलता अधिक मात्रा में है। शून्यवाद हमारे युग का ज्वलन्त स्पष्टदोष है।

हम भारत में विशेषतः नग्न रहने के अभ्यस्त हैं। हमें वह स्तब्ध नहीं करता। परन्तु अधिकतर भग्न मस्तिष्क की भयंकरता को हम सहन करते हैं। इन व्यक्तियों में हम भारतीय दृष्टिकोण नहीं देखते। वे अपने आपको पश्चिमात्य होने का दावा तो जरूर करते हैं किन्तु तत्सम कार्यक्षमता एवं चरित्र के सर्वथा अभाव में। धर्म 'लोगों के लिए अफीम सदृश है अथवा निरे बचपन की ओर अधोगति' तथा 'ईश्वर की कल्पना मस्तिष्क की विकृति है,' ये सब कल्पनाएँ हैं, जिनपर वे विश्वास करते हैं। इनमें चैतन्य का अभाव एवं आध्यात्मिक अवनति का लक्षण विद्यमान है। विश्वास के स्थलों में संशय एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति उदासीन भाव, हमारे शिक्षितों की मनःस्थिति के विशेष लक्षण हैं।

जीवन के जड़वादी दृष्टिकोण के दुष्परिणामों का सुन्दर चित्रण डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक 'रिकवरी ऑफ फेथ' में किया है। "न जाने बाद के युद्ध के अन्धपागलपन के कारण हुए नवीन मस्तिष्क की आचारशून्यता की वजह से हो, सभी समाजों में स्वार्थपरता की निर्लज्ज प्रवृत्ति के कारण, सुबुद्धि पर रोक लगाकर अवांछित ज्ञान की बेशुमार बढ़त के कारण, क्रूरतापूर्ण उत्तेजनाओं के फलस्वरूप बाद की अवनतिकारक तृष्णा के अथवा अन्य किसी भी वजह से ही क्यों न हो, हमें मानो एक नये अन्ध युग की स्पष्ट सूचना देता है।" पाश्चात्य शिक्षा का अनिष्टकारी प्रभाव शायद ही हमारे जीवन-संघर्ष में सहायक सिद्ध होता है। बिना अपने मानसिक दायरों का विकास किए, प्रवृत्तियों को परखकर आत्म-विश्लेषण किए, दृष्टिकोण को व्यापक बनाए एवं ज्ञानवृद्धि किए हम सहज ही पश्चिम के प्रभाव में आ जाते हैं।

अस्थिरता, पलायनवादी व्यक्तित्व तथा भयग्रस्तता जो इस पीढ़ी के बढ़ते हुए लक्षण हैं, समकालीन विचारधारा के समक्ष नष्टप्राय हैं। 'डॉ कर्नेल कहते हैं, बावजूद विस्मयकारी वैज्ञानिक सभ्यता के, मानव व्यक्तित्व विनष्ट होने के लिए प्रवृत्त है।' यद्यपि देश के शान्तिप्रिय महान् व्यक्तियों ने हमें चेतावनी दी है, तथापि हम पश्चिमी हवा के हर झोंके को स्वीकार करते हैं, और कहाँ तो वे हमें सुख देते हैं !

टाएनबी, रसल, सोरोकिन प्रभृति व्यक्तियों की चेतावनियों के बहुत पहले ही महान् स्वामीजी ने पश्चिम के उद्यम को चुनौती दी थी जो अपने विश्वास का पाया विनाशकारी तत्त्वों पर स्थापित करता है। यह भी कि वह मनुष्य-आत्मा के अजेयत्व की सत्यता का ही परित्याग करता है।

आत्मा विषयक हमारी खेदपूर्ण असफलता ने, जीवन को एक उच्च अर्थ तथा गम्भीरतम गहराई देने की हमारी असमर्थता ने हमें अपने उद्देश्य के कहीं नजदीक भी फटकने नहीं दिया है।

१९वीं सदी के उत्तरार्ध में जो प्रकाण्ड विद्वान हमारे देश में हुए थे, हमारी संस्कृति की ही देन थे। उन्हें अपनी संस्कृति के सारभूत विषयों के प्रति उथली एवं गलत धारणाएँ नहीं थीं। उन्होंने हमारी संस्कृति के विश्लेषण में विश्वास किया था तथा उनके समक्ष मस्तिष्क की हतोत्साहिता के मकड़जाल को निकाल फेंकने की एवं भय, नैराश्य, हीनबोधता तथा नैराश्य को दूर करने की शक्ति विद्यमान थी। काफी लम्बे शीतकालीन शतकों के पश्चात् हमें अपनी आँखों के सामने हमारी संस्कृति की सच्ची विभूतियों के दर्शन हुए। उनके जीवन की हिम-शुभ्र साधुता, निर्मलता एवं पावित्र्य की पराकाष्ठा हमारे लिए कल्पनातीत वस्तु है। वे अपनी जन्मजात अच्छाइयों को जनसाधारण तथा प्रत्यक्ष अपने जीवनाचरण में उतारने में सक्षम हुए थे। वह देदीप्यमान युग निश्चय ही विस्तृत बौद्धिक विकास, पवित्र उद्यमों एवं उज्ज्वल महत्वाकांक्षाओं से अभिलक्षित हुआ था।

पाश्चात्यों का अपनी मान्यताओं का बृहत् पैमाने पर प्रचार करने के प्रयास को जाग्रत एवं संतप्त भारतीयों ने उन्मत्त हो क्षणमात्र में निर्मूल कर दिया। हम आन्तरिक एवं बाह्य विघटनकारी तत्त्वों के विरुद्ध पूर्णतया रक्षित थे। उस युग के बुद्धिवादियों तथा उनके अर्वाचीन समकक्षों में समय की दृष्टि से थोड़ा ही अन्तराल है, स्थान का कुछ ही मीलों का अन्तर है, परन्तु चैतन्य की दृष्टि से कितना विस्तीर्ण अन्तर व्याप्त है।

हम उन प्रचण्ड विभूतियों के देश में बौने बन बैठे हैं। वे परतन्त्र भारत में सिंह के समान स्वच्छन्द विचरण करते थे परन्तु हम स्वतन्त्र भारत में भेड़ों के समान रहते हैं। उनके पौरुष एवं बल के पीछे उनकी आत्मा की शक्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

वे आत्मविश्वास के पर्वत थे। वर्तमान परिस्थिति का कारण बुद्धिवादियों द्वारा सही मार्गदर्शन देने में उनकी असफलता ही है।

यह हमारे देश के शिक्षित लोगों का कर्त्तव्य है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध वे युद्ध की घोषणा कर दें जो हमारे देश के मर्म को ही खा रहा है। 'विश्व ऐसे दर्शन या धर्म की जरूरत महसूस करता है, बर्टेण्ड रसल कहते हैं,' यदि जीवन को पूर्णतया मानवी करना है, तो उसे कुछ अर्थों में, उन उद्देश्यों के प्रति जूझना चाहिए, कोई लक्ष्य जो अमानवी एवं मानवातीत हो जैसे ईश्वर, सत्य, या सौन्दर्य।' डॉ. अलेक्सिस करेल उन आध्यात्मिक विभूतियों का नेतृत्व चाहते हैं जिनके पास मानवप्रकृति का ज्ञान, उसके उद्देश्य एवं आकाक्षाएँ धरोहर स्वरूप हों। 'कदाचित् ऐसे धार्मिक संघ हों, जिनके प्रतिनिधि ऐसा चरित्र रखते हों, जो एकसाथ विज्ञानी तथा धर्मनिष्ठ दोनों हों, उद्देश्यपूर्ति हेतु ऐसे संघों का निर्माण करना चाहिए। (अलेक्सिस करेल)

हम बेहतर लाभ अर्जित कर सकते हैं यदि हम गम्भीरतापूर्वक स्वामीजी के सन्देश का विचार करें, जो रोमा रोलाँ के लिए 'वर्तमान युग के अग्रणी एवं मार्गदर्शक हैं।' स्वामीजी की स्पष्ट चेतावनी है—'धर्म, केवल धर्म ही, भारतीय जीवन का प्राण है और यदि वह लुप्त हो जाता है तो भारत की मृत्यु निश्चित है। भले ही राजनीति रहे, सामाजिक सुधार हों, कुबेर के धन की उसके हर एक पुत्र के सिरपर वर्षा ही क्यों न कर दी जाए!'

[नोट:—प्रस्तुत लेख वेदान्त सोसाइटी, न्यूयार्क के प्रमुख स्वामी तथागतानन्दजी महाराज द्वारा लिखित 'Glimpses of Great lives' नामक पुस्तक में संकलित लेख 'Swami Vivekananda and the Modern Intellecesuals' का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं ब्र० रवीन्द्र, जो रामकृष्ण मठ, पुणे के अन्तेवासी हैं। सं.]

●

प्रत्येक धर्म-साधक एवं अध्यात्म-जिज्ञासु के लिए अवश्य पठनीय पुस्तक

पथ और पाथेय

लेखक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

प्रकाशक—श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम,

जयप्रकाश नगर, छपरा—८४१ ३०१ (बिहार)

पृष्ठ—२०१

मूल्य—१५ रुपये मात्र (डाक खर्च १० रुपये अलग)

स्वामी विवेकानन्द और कश्मीर

—प्रो० चमनलाल सप्रू
जम्मू

कश्मीर सदैव देश-विदेश के विद्वानों, चिन्तकों, दार्शनिकों और साहित्यकारों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। इन्हीं महापुरुषों में स्वामी विवेकानन्द का नाम भी आता है। भारतीय संस्कृति का अमर सन्देश पश्चिम में फैलाकर जब स्वामीजी स्वदेश लौटे तो उनके मन में हिमालय दर्शन की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई और इसी क्रम में वह १८९७ में कश्मीर आये। यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य और सांस्कृतिक धरोहर ने उनको इतना मुग्ध किया कि अगले साल पुनः वह कश्मीर पधारे। कश्मीर के बारे में उन्होंने अपने पत्रों में बहुत कुछ लिखा है। इन पत्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह कश्मीर की उपजाऊ धरती पर मानव कल्याण के लिए कुछ करना चाहते थे। वह यहाँ के दर्शन विशेष कर कश्मीरी शैव दर्शन के तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों और संतों से मिले थे और उनसे प्रभावित भी हुए थे। पंडित रामजू सौदागर की डायरी, जो अभी भी डॉ॰ त्रिलोकी नाथ गजू के पास सुरक्षित है, में स्वामीजी और प्रसिद्ध शैव सन्त महामाहेश्वराचार्य रामजी की भेंट का वर्णन मिलता है। उस समय के कुछ चित्र भी उपलब्ध हैं। एक ग्रुप फोटो में स्वामीजी के साथ यहाँ के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० आनन्द कौल बाम्जई और प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान प्रो० नित्यानन्द शास्त्री भी दिखाई देते हैं। कश्मीर के प्रथम ग्रेजुएट स्व० पंडित नन्दलाल कितरू ने अपनी एक भेंट में मुझे बताया कि स्वामीजी बड़े देशभक्त तो थे ही साथ ही बड़े स्वाभिमानी थे। उनके अनुसार एकवार जब स्वामीजी गुलमर्ग की एक संकरी सड़क का सैर कर रहे थे तो उनके साथ दायें-बायें कुछ शिष्यगण और भक्त भी जा रहे थे। इनके पीछे-पीछे एक अँग्रेज भी सैर के लिए आये थे। शिष्यों ने पीछे मुड़कर उस अंग्रेज को आते हुए देखकर स्वामीजी से कहा- महाराज कोई अंग्रेज हमारे पीछे-पीछे आ रहा है हम एक ओर जाएँ और उसे आगे बढ़ने के लिए रास्ता छोड़ दें। स्वामीजी ने कुछ क्रुद्ध होकर उस शिष्य से कहा 'क्यों? काहे के लिए रास्ता छोड़ दें—कौन शैतान है वह? अंग्रेज ने जब यह सुना और स्वामीजी के भव्य व्यक्तित्व की ओर झाँका तो पीछे लौटकर जाने में ही खैर समझी। इस घटना के पीछे एक कारण हो सकता है। वास्तव में स्वामीजी के मिशन से प्रभावित होकर तत्कालीन कश्मीर नरेश ने स्वामीजी द्वारा चुना हुआ एक बहुत बड़ा भू-भाग एक संस्कृत कॉलेज, मठ तथा सेवा केन्द्र स्थापित करने हेतु दिया था। लेकिन अंग्रेज रेजिडेंट ने स्वामीजी के देशभक्ति पूर्ण विचारों को जानकर भाँप लिया था कि स्वामीजी के स्थापित केन्द्र में देशभक्ति का प्रचार-प्रसार होगा। इसलिए उन्होंने कश्मीर नरेश को ऐसा करने की अनुमति नहीं दी।

स्व. प्रिंसिपल जयलाल करौल ने एक भेंटवार्त्ता में मुझे स्वामीजी के सम्बन्ध में एक रोचक संस्मरण सुनाया—जयलालजी के पिता स्व॰ लालकौल स्वामीजी के पास प्रतिदिन जाते थे। एक दिन लालकौल को आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी डोंगे में बैठे हैं और उनका मल्लाह मछलियाँ तलकर एक थाली में परोसकर स्वामीजी के सामने परोस रहा है

और स्वामीजी बड़े इत्मिनान से मछली खा रहे हैं। पं० लालकौल का विचार था कि एक संन्यासी होने के नाते स्वामीजी मछली का आहार नहीं कर सकते हैं अतः उसने पूछा - महाराज क्या आपका मछली खाना उचित है ? स्वामीजी ने झट उत्तर दिया—

पं० लालकौल आपको इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि मेरे मुख में क्या जा रहा है। भला इसी में है कि मेरे मुख से क्या निकल रहा है इसका चिन्तन करें। इस अद्भुत उत्तर को सुनकर पं० लालकौल खामोश हो गये।

डॉ० बलजिन्नाथ पंडित ने अपनी एक भेंट में मुझे बताया कि उनके एक परिचित संन्यासी जब ब्रह्मचारी के रूप में नारायण मठ श्रीनगर में रहते थे तो स्वामीजी एक बार वहाँ भोजन करने के लिए पधारे। ब्रह्मचारी ने इस अवसर पर स्वामीजी से कहा—महाराज आप एक संन्यासी हैं तो भला आपके पीछे-पीछे ये महिलायें क्यों चलतीं हैं ? यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि उनके साथ कश्मीर यात्रा के लिए अनेक संन्यासी और कुछ विदेशी महिलाएँ थीं जो अमेरिका और इग्लैंड के प्रवास में स्वामीजी के भाषणों और व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुई थीं। स्वामीजी ने इस अवसर पर ब्रह्मचारीजी को जो उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट किया वह विचारणीय है। स्वामीजी ने कहा—संन्यासी होने के नाते मेरे पास एक अमूल्य रत्न है और वह है ब्रह्मचर्य - उसी के प्रति आकृष्ट हैं ये महिलाएँ। हमारे देश में ब्रह्मचर्य रूपी रत्न का महत्व अनादि काल से बताया गया है।

यदि आप मट्टन अर्थात् मार्त्तण्ड तीर्थ जाएँगे तो एक वृद्ध पंडा अपनी बही पर स्वामीजी का सुन्दर हस्ताक्षर दिखाएगा।

स्वामीजी ने कश्मीर के सौन्दर्य और पुरातत्त्व को अपनी मौलिक दृष्टि से देखा। शंकराचार्य की पहाड़ी से हारी पर्वत की पहाड़ी को देखकर अपने शिष्यों से कहा—लो देखो, सिंहराज की मुद्रा में हारी पर्वत। मैं उसके ऊपर विराजमान जगज्जननी शारिका को भली-भाँति देख रहा हूँ। अमरनाथ के दर्शन करके उन्हें जो अद्भुत आनन्द का अनुभव हुआ उसका वर्णन करते हुए वह लिखते हैं :—

'अभूतपूर्व ! सुन्दर ! प्रेरणादायी !'

इसी प्रकार क्षीर भवानी में एकान्त वास और तपस के उपरान्त उन्होंने कहा—मैं जहाँ-जहाँ भी जाता हूँ मुझे माँ ही माँ दिखाई देती हैं।'

कश्मीर ने उनके मन पर गहरा असर डाला था। इसका उल्लेख वह अपने पत्रों में करते हैं जो उन्होंने समय-समय पर अपने गुरुभाइयों और श्रद्धालुओं को कश्मीर प्रवास के दौरान लिखे हैं—कश्मीर के तत्कालीन न्यायाधीश पण्डित ऋषिवर मुखोपाध्याय के मकान से १३ सितम्बर १८९१ को लिखे गये अपने पत्र में स्वामी ब्रह्मानन्दजी को लिखते हैं—"अब मैं कश्मीर पहुँचा हूँ। इस प्रदेश के बारे में प्रशंसा सुनी जाती है; वह सत्य है। ऐसा सुन्दर प्रदेश और नहीं है, यहाँ के सभी लोग देखने में सुन्दर हैं, आँखें अच्छी होती हैं। किन्तु इस प्रकार नरक सदृश गन्दे गाँव तथा शहर अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं।"

एक और पत्र स्वामी शुद्धानन्दजी को लिखा है। पत्र दिनाङ्क १५ सितम्बर १८९७ को लिखा गया है। इसमें लिखते हैं:—"आखिर में हम कश्मीर आ पहुँचे हैं। यहाँ की सारी सुन्दरता की बातें तुम्हें लिखने से लाभ ही क्या होगा। मैं समझता हूँ कि यही एक मात्र देश है, जो कि योगियों के लिए अनुकूल है। इस प्रदेश के रहने वालों का शारीरिक सौन्दर्य अपूर्व है।"

स्वामी विवेकानन्द ने कश्मीर प्रवास के दौरान अपनी दो प्रसिद्ध कविताएँ To the fourth of July" और Kali the Mother भी लिखीं। वे यहाँ के पुरातत्व मार्त्तण्ड, शंकराचार्य,

पॉद्रेठन आदि के प्राचीन मन्दिरों की कला, यहाँ के इतिहास, संस्कृति और दर्शन से काफी प्रभावित हुए। यहाँ से लौटकर और इस प्रदेश की साँझी संस्कृति से प्रभावित होकर ही शायद उन्होंने अपने मित्र सरफराज मुहम्मद हुसैन को पत्र में लिखा था—भारत के भविष्य के लिए "वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर" की आवश्यकता है। वे निःसन्देह आलमी भाईचारे के ज्वलंत परिणामों की विशिष्टता के परिचायक थे।

★

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

१.	एक भक्तिमती महिला	—	इलाहाबाद	३,९९० रुपये
२.	एक शुभैषी	—	पुणे	२०० रुपये
३.	श्री एस० के० चक्रवर्ती	—	इलाहाबाद	२७ रुपये
४.	श्री पृथ्वीराज शर्मा	—	ठण्डी, राजस्थान	२०० रुपये
५.	श्री दीपक श्रीवास्तव	—	पटना (बिहार)	१०१ रुपये
६.	एक शुभ चिन्तक	—	इलाहाबाद	२५० रुपये
७.	भी० वी० उरकुडे	—	चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)	५० रुपये
८.	श्रीमती शान्ति देवी	—	इन्दौर (मध्य प्रदेश)	१०० रुपये
९.	श्री एस० डी० शर्मा	—	अहमदाबाद	३०१ रुपये
१०.	श्रीमती प्रभा भार्गव	—	बीकानेर (राजस्थान)	२०० रुपये
११.	श्री रामनायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२	श्री एस० डी० शर्मा	—	अहमदाबाद	गुजरात

युवा वर्ग को स्वामी विवेकानन्द का संदेश

—अनु० डॉ० एच० के० वर्मा
रीडर, वनस्पति विभाग
जगदम कालेज, छपरा

[प्रस्तुत लेख 'Service & Spirituality' नामक पुस्तक में प्रकाशित स्वामी स्वाहानन्दजी के लेख 'Swami Vivekananda to Modern youth पर आधारित हिन्दी अनुवाद है।]

१८८० में स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण परमहंस से हुई पहली भेंट की उपमा अर्वाचीन से प्राचीन की, पश्चिम से पूरब की, शक्ति से ध्यान की, मानवतावाद से अध्यात्मवाद की मुलाकात से की जाती है। स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए नरेन्द्र नाथ दत्त का जन्म १८६३ ई० में कलकत्ता के एक कुलीन परिवार में हुआ था। छुटपन में ये देह से मांसल और मन से अशांत परन्तु, तीक्ष्ण बुद्धिवाले ऐसे बालक थे जिनमें ध्यान करने की अपूर्व क्षमता थी। धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण में इनका लालन-पालन किया गया। अपने यौवन के शुरू के दिनों में ही ये आधुनिक युवा वर्ग के प्रतिनिधि बन गये। उनके मन में पूरब और पश्चिम के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों से बौद्धिक संघर्ष उत्पन्न हुआ था। परन्तु, तत्कालीन ब्रह्म समाज के प्रभाव से उन्होंने दृढ़ भौतिक चरित्र-युक्त व्यक्तित्व के साथ सत्य की तलाश आरम्भ की थी। श्रीरामकृष्ण परमहंस से मिलकर, उनकी, सम्पूर्ण जीवन-चर्या प्रभावित हुई। उन्होंने सांसारिक जीवन से स्वयं को अलग करके पूरे भारतवर्ष की यात्रा की। मद्रास कुछ युवकों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर, वे अमेरिका गये, जहाँ १८९३ में विश्व-धर्म-सभा में उनके दृष्टिकोण को अभूतपूर्व सफलता मिली। उन्होंने वहाँ अपने देश को एक शिक्षक के रूप में प्रतिस्थापित किया। उनकी सफलता ने उनके देश-वासियों की भावनाओं को झकझोरा, जागने की प्रेरणा दी तथा अपने भीतर की अनन्त संभावनाओं के प्रति जागरूक किया। १९०२ में मात्र ३९ वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया। उनके देहान्त के ५ वर्षों के भीतर ही श्री अरविन्द तथा तिलक के रूप में अपने देश को विदेशियों के चंगुल से मुक्त करने वाली क्रांतिकारी ऊर्जा की ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भी नव जीवन प्राप्त हुआ। फिर तो सैकड़ों युवा उस देशभक्त संत की शंखनादी पुकार से प्रभावित हुए और भारत के लगभग सभी पन्नों में जागृति की चेतना फैल गयी।

स्वामी विवेकानन्द को युवकों से अपार प्रेम था। वे युवावस्था को संकल्पों और संभावनाओं से भरपूर अवस्था मानते थे। उन्हें एक ऐसे तेजस्वी युवा समुदाय की आवश्यकता थी, जो देश के पुनर्गठन के लिए अपने प्राणों की बलि दे सके। उनका विचार था कि हाथ, दिमाग और दिल का सम्यक् और संतुलित विकास होना चाहिए। वे युवकों में लोहे सदृश मांस पेशियाँ और फौलादी दृढ़ता के हिमायती थे। शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान देने के लिए युवकों को प्रोत्साहित करते हुए वे कहते थे कि फुटबॉल खेलकर गीता के रहस्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है। उनकी मंशा यह थी कि स्वस्थ विचारों से युक्त स्वस्थ शरीर वाला व्यक्ति गीता के जीवनदायी संदेशों को अच्छी तरह आत्मसात् कर सकता है। तेजस्वी विचारों की दृढ़ता के अभाव में सभी तरह के प्रशिक्षण निरर्थक

हैं। हमारी शिक्षा तभी सार्थक है जब पुस्तकों और पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान हमारे रक्त की शिराओं में प्रवेश करके हमें स्वस्थ चिंतन की ओर उन्मुख करे और हमें कर्म करने की प्रेरणा दे। हमारी दैनिक कार्यतालिका अनेक ऐसी सैद्धान्तिक सूचनाओं से भरी हुई है जो न सुपाच्य है और न जीवन से संबंधित ही। अध्ययन को चिंतन से तथा कर्म को ध्यान से जोड़ने की भारतवर्ष की वर्षों पुरानी परम्परा रही है। इसके अभाव में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली असंतुलित है। भारतवर्ष में कार्यरत पश्चिमी शिक्षा शास्त्री एवं उनके अनुयायियों को ऋषियों के नाम से प्रख्यात प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों से शिक्षा लेनी चाहिए। यही कारण था कि स्वामी विवेकानन्द प्राचीन गुरुकुल पद्धति को पुनर्जीवित करना चाहते थे ताकि विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों के अनुकूल आत्मसयम, धर्म-निष्ठा तथा आत्म नियंत्रण की शिक्षा दी जा सके। हमारे पूर्वजों ने जीवन के जिन चार आयामों की चर्चा की है वह आधुनिक युवाओं के लिए एक तरह का उपहार है। प्रथम चरण में विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करना है। दूसरे चरण में धर्म द्वारा निर्देशित गृहस्थ आश्रम में प्रवेशकर जीवन भोगने की बारी आती है। इस अवस्था की तुलना आधुनिक युग के आदर्श नागरिक कर्तव्य से की जा सकती है। तृतीय चरण में अपने परिवार के प्रति कर्तव्यों से ऊपर उठकर बाह्य संसार के प्रति तथा जीवन के अंतिम सत्य के प्रति अधिक जागरूक होना होता है। 'वन्दे मातरम्' के रचयिता बंकिमचन्द्र ने इसे आधुनिक परिवेश के अनुसार लोकहित को समर्पित सामाजिक क्रियाओं की संज्ञा दी है। चतुर्थ चरण में सभी सांसारिक कार्यों, दायित्वों से मुक्त होकर ईश्वर के चिन्तन के सुख के प्रति व्यक्ति के समर्पण की व्यवस्था है। इन मान्यताओं पर आधारित जीवन हमें उन कुंठाओं से मुक्त कर सकेगा जो आत्म केन्द्रित होने के कारण निश्चित है। पश्चिम के लोग अभी तक इन चार आयामों का सही विकल्प नहीं खोज पाये हैं। स्वामीजी चाहते थे कि सर्व-प्रथम हमलोग अपनी प्राचीन संस्कृति से पूरी तरह परिचित हो जाएँ और तब उस उज्ज्वल भविष्य की ओर प्रस्थान करें जिसका आविर्भाव उनकी दृष्टि में अवश्यम्भावी था। वास्तव में उनके जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य भारत और उसकी संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम था। आजकल सैकड़ों की संख्या में युवक विदेश जा रहे हैं। वे भारतीय संस्कृति के वाहक हो सकते हैं। किन्तु, दुःख की बात है कि बहुत कम लोग अपनी संस्कृति की जानकारी रखते हैं। यह अज्ञान युवकों को अपने प्रति, अपने देश के प्रति, अपनी संस्कृति के प्रति हीन भावना से ग्रस्त कर देता है। इसकी वजह से वे अपनी कोई विशिष्ट पहचान नहीं बना पाते। प्रायः हम इस सच्चाई को भूल जाते हैं। स्वामीजी के अनुसार अपने आप के प्रति विश्वास का अभाव, ईश्वर के प्रति विश्वास का अभाव है। वे कहा करते थे 'हमलोग उस परम् शक्ति के अंश है। हम उस परम पवित्र अग्नि की चिनगारियाँ हैं। हम नगण्य कैसे हो सकते हैं? हम सर्वस्व हैं। कुछ भी करने को तैयार, हैं। कुछ भी कर सकते हैं। हमें सब कुछ करना चाहिए।" इस तरह वे ईसामसीह की तरह मानवता के ऐसे धनात्मक प्रतीक थे, जिनके सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों में ऊर्जा का संचार हुआ।

स्वामीजी ने मानव समुदाय को उसकी दिव्य कीर्त्ति का बोध कराया तथा उनकी इच्छा थी कि लोग अपनी सभावित दिव्यता को प्रकट करें। अपने वास्तविक स्वरूप की जानकारी बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति है। इससे व्यक्ति अव्यावहारिक और कर्तव्य-हीन होने की अपेक्षा जीवन के प्रति साहसी तथा स्वस्थ दृष्टिकोण वाला होता है। उसमें अपार शांति, अपूर्व दृढ़ संकल्प शक्ति संचारित होने लगती है। उसके लिए अपने व्यक्तित्व को निखारना यानी कि उसे संपूर्णता की ओर ले जाना अपेक्षाकृत

आसान हो जाता है। सम्पृक्तता मानव की दृष्टि धुंधला कर देती है। असम्पृक्तता दृष्टि को साफ करती है, किसी वस्तु को उसके सम्यक् स्वरूप में देखने की क्षमता देती है। समस्याओं को वस्तुपरक दृष्टिकोण से देखने की शक्ति देती है। वस्तुपरक दृष्टि किसी वस्तु के सही स्वरूप की जानकारी की पहली सीढ़ी है। अतः अपनी दिव्य विरासत की पहचान अधिकतम क्षमता की दिशा में अग्रसारित करती है और तब उत्तेजना, क्रोध, चिन्ता और दुःख की अनुभूति में कम से कम मानसिक शक्ति का क्षय होता है।

स्वामी विवेकानन्द सम्पूर्ण संन्यासी थे। उन्हें भारत से प्रेम था क्योंकि "अगर भारत का नाश हो जाएगा तो इस पृथ्वी से धर्म का भी नाश हो जाएगा।" भारत अपने आध्यात्मिक विरासत के कारण ही महान रहा है। उसे अपने तमाम मंगलमय आदर्शों के माध्यम से पुनः अपनी प्राचीन गरिमा हासिल करनी होगी। "लेन-देन" प्रकृति का नियम है। भारत को कुछ लेने के लिए कुछ देने की आवश्यकता है। इसके पास अपनी सांस्कृतिक गरिमा, ईश्वर के प्रति अनुरागजनित उन्माद, त्याग तथा समर्पण के सिवा और है क्या? अगर इस देश को अपने नवशिक्षित होने का अभिनय नहीं करना है तो इसे अपनी आध्यात्मिक विशेषताओं को न केवल जीवित करना होगा बल्कि उसे गतिशील भी करना पड़ेगा। यह सब प्रत्येक मानव में परम् ब्रह्म परमात्मा का अस्तित्व महसूस करके किया जा सकता है। यही वेदान्त की दृष्टि रही है। यही उसका मूल संदेश भी है। वेदान्त की यह शिक्षा आधुनिक युग के लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा यह आधुनिक परिवेश के अनुकूल भी है। अगर विज्ञान आधुनिक मानव को किसी भी वस्तु की पूर्णता को स्वीकारने से रोकता है तो उसे इस सिद्धान्त का ज्ञान करावें।

स्वामी विवेकानन्द स्वतंत्रता के दूत थे। स्वतंत्रता हमारा अभीष्ट है। वे कहते थे, "हमारे सभी प्रयासों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक स्वतंत्र होना है।" स्वामीजी पूछते कि मुक्ति है क्या? यह ईश्वर है कौन? निश्चय ही वह स्वतंत्रता की प्रतिमूर्ति है—सम्पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था है। अतः स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करना ईश्वर को खोजना है। मात्र स्वतंत्रता ही व्यापक फलक है। यह सम्पूर्ण रूप से स्वीकार्य है। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य प्रकार की स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता के अनुपात में मात्र आंशिक हैं। स्वामी विवेकानन्द द्वारा बनायी गयी पुनर्जीवन की चौतरफी योजना में इन सब का भी समावेश है। किन्तु, हमें एक व्यापक दृष्टकोण की आवश्यकता है। वह दृष्टिकोण हमें हमारी सीमित, संकुचित, स्वार्थी और निषेधक दृष्टि के कारण नहीं मिल पाया है। निश्चित रूप से परिवार के प्रति हमारा जो लगाव है वही समाज के प्रति, अपनी संस्कृति के प्रति हमारा जो समर्पण है, वही विश्व संस्कृति के प्रति और अपने देश के प्रति जो प्रेम है वही विश्वप्रेम के रूप में विकसित करना चाहिए। बड़ा पात्र छोटे का अवरोधक नहीं होता है। दूसरी ओर छोटा भी बड़े का प्रवेश-द्वार बन सकता है। सीमित से असीमित की ओर प्रस्थान ही रास्ता है। परिमित से अपरिमित की ओर जाया जा सकता है। परिमित है ही इसलिए कि अपरिमित की ओर का मार्ग खुले। अतः विवेकानन्द को विश्व प्रेम और देश प्रेम के बीच किसी संघर्ष, किसी द्वन्द्व का अभास नहीं हुआ।

स्वामीजी सभी व्यक्तियों को एक ही साँचे में ढालने के हिमायती नहीं थे। अनेकता में एकता प्रकृति का स्वभाव है। इसी में जीवन का स्वाद है। यह विकास की शर्त भी है। अतः मानव और समाज को विविधताओं में विकसित होने दें। किन्तु, उन्हें अपने आदर्शों को परिमित न करने दें। बल्कि उन्हें अपने सम्पूर्ण, सम्भावित विकास की दिशा में विकसित होने दें, पूरी तरह फलने

दें। यदि ऐसा किया जाए तो अन्ततः पता चलेगा कि सभी उस असीम पर एकत्रित हैं। उस असीम तक जाने के अनन्त पथ हैं। एक बार किसी व्यक्ति या समाज को उस असीम की झलक मिल जाती है तब वह विश्व को समझने, अनुगमन करने और मानव के प्रति भाईचारा बरतने का सूत्र पा जाता है।

विवेकानन्द मात्र जाति के आधार पर मिली विविध वंशानुगत सुविधाओं के विरोधी थे। मानव सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप विविध तरह से काम कर सकता है और यही सामाजिक संस्था के अनुकूल भी है। किन्तु, यह अपेक्षित है कि इस प्रक्रिया में भोगने योग्य वस्तुओं के प्रति उसका अपना कोई निजी स्वार्थ न हो। सभी मनुष्यों में समानता है। सभी आत्म-स्वरूप हैं। यही वेदान्तिक दृष्टि है। एकसी आत्मा सभी में विद्यमान है। उनके भोग अधिकार साम्य के मूल में यही बात है। किन्तु, सुविधाएँ सभी परपीड़न पर आधारित हैं। जहाँ अधिक सुविधा है वहाँ अधिक क्रूरता भी है। इसलिए उन्होंने तमाम शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सुविधाओं के लोप की कामना की।

वे इस बात के कायल थे कि "कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र अन्य समुदाय से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता"। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत के विनाश की प्रक्रिया तब शुरू हुई जब भारतीयों ने विश्व की मुख्य धारा से अपने को काट लिया। अब भारत के पुनर्निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अपने को विकसित करे। इसके बाद ही संसार के लोग भारत को पहचान सकेंगे तथा उनके सनातन आध्यात्मिक संदेश को स्वीकार कर पायेंगे। भारतीय प्रजातंत्र नास्तिक या ईश्वर विहीन होकर धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में सांसारिक धर्म निरपेक्षता धीरे-धीरे अपने प्राचीन पारम्परिक अर्थ की अपेक्षा स्वतंत्रता की चेतना या धार्मिक भावनाओं के अर्थ की ओर अग्रसर हो रहा है। यह निश्चय ही आध्यत्मिक शक्ति के प्रभाव के फलस्वरूप तथा भारतीय भविष्यद्रष्टा मनीषियों के प्रभाव से निर्मित प्रभाव के फलस्वरूप संभव हो रहा है। जब तक धर्म जीवित है तब तक साधु-संन्यासी जन्म लेते रहेंगे और जब तक ऐसा होता रहेगा किसी बात का भय नहीं है। क्योंकि यह स्थिति विश्वास-विहीन धर्म निरपेक्षता से अच्छी है। वगर धार्मिक विश्वास के किसी भी समाज की स्थापना असंभव है। और जब यह सब हमारे खून में उपस्थित है तब हम इसके विपरीत क्यों जाएं? नया नाला खोदने से अच्छा है कि पुराने नाले को ही और गहरा किया जाय।

स्वामीजी ने हिन्दुत्व के सभी आयामों को परखा था। इसमें आशावादिता तथा दृढ़ निश्चयता कूट-कूट कर भरी हुई है। उनकी मान्यता थी कि जो लोग सांसारिक सुखों के आकांक्षी हैं उन्हें अभ्युदय तथा सफलता के मार्ग पर चलने दें। जिन लोगों में सांसारिक सुखों के प्रति ललक नहीं है उन्हें निःश्रेय स्वतंत्रता की ओर जाने दें। एक बार जब उनसे संक्षिप्त रूप में भारतीय संस्कृति का अर्थ पूछा गया तो उन्होंने केवल 'प्रवृत्ति तथा निवृत्ति' नामक दो शब्दों का इस्तेमाल किया था। इन दोनों शब्दों में मानव की तमाम इच्छाएँ तथा प्रयास सम्मिलित हैं। हिन्दुओं की जीवन चर्या में विज्ञान, दर्शन और तकनीक सभी समाहित हैं। यहाँ खोज की आत्मा का हनन नहीं हुआ है और नहीं जीवन स्तर के विकास के प्रयास पर कोई प्रश्न चिह्न लगा है। बस, मनुष्य की ऊँची अभिलाषाओं का गला नहीं घोंटना चाहिए। और कुछ नहीं। भारतीय संस्कृति न केवल एक विशेष दृष्टिकोण पर आधारित विशिष्ट जीवन-दर्शन है बल्कि यह एक सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार, जीवन मूल्यों का

सम्पूर्णता तथा मूल्यों का उसकी सम्पूर्णता में स्वीकार भी है।

स्वामी विवेकानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की जीवनी शक्ति उसकी आध्यात्मिक शक्ति में सान्निहित है तथा भारत का पुनर्निमाण तभी संभव है जब उसके आध्यात्मिक जीवन में नयी शक्ति संचारित की जाये। अरविन्द, गाँधी, रवीन्द्र नाथ तथा अनेक महान भारतीयों की भी यही मान्यता रही है। हमें पश्चिमी सभ्यता तथा उससे प्राप्त तत्कालीन सफलता के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालने से पहले उक्त महान पुरुषों के विचारों पर भी ध्यान देना चाहिए। आध्यात्मिक संस्कृति से स्वामीजी का यह मतलब कतई नहीं था कि किसी विशिष्ट जाति या धर्म के बाहरी कठोर आवरण को लेकर हम आपस में लड़ें। जैसा कि पहले कहा गया है कि वे सभी जातिप्रदत्त सुविधाओं, धार्मिक, बौद्धिक तथा आर्थिक सुविधाओं के विरुद्ध थे और उन्होंने इसका स्पष्ट शब्दों में विरोध भी किया है।

फिलवक्त भारत एक स्वतंत्र देश है। सभी क्षेत्रों में यहाँ अनेक कार्य करने को हैं। परन्तु, कुछ स्वार्थी तत्व इस मिट्टी को तोड़ने, मड़ोरने की कोशिश कर रहे हैं। इसमें दरार डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। फलतः भारत की एकता पर खतरे के बादल मँडराने लगे हैं। स्वामीजी ने अपनी अपूर्व अन्तर्दृष्टि के आधार पर इसकी स्पष्ट घोषणा की है, कि जब भारत में एक राजनीतिक सरकार की स्थापना नहीं हुई थी तब भी संस्कृत भाषा तथा आध्यात्मिक संस्कृति के फलस्वरूप यहाँ एक प्रकार की रेखांकित एकता थी। स्वामीजी संस्कृत भाषा को भारतीय संस्कृति की वाहक स्वीकारते थे। फिलवक्त हमें सभी छोटे तथा स्थानीय स्वार्थों को छोड़कर राष्ट्र के उत्थान के लिए एकजुट होना चाहिए। उसके लिए आवश्यक है कि हम त्याग तथा सेवा के अपने राष्ट्रीय प्रतीक के साथ पूरी तरह रम जाएं। अपने आदर्श 'स्वान्तः सुखाय' के लिए 'जगद्धिताय' के प्रति समर्पित होना व्यक्ति को चरम व्यावहारिक विचारों और आदर्शों से भर देना है। अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के लिए कुछ करना अपने आप में एक उच्च आदर्श की स्थापना है। इधर हम कुछ अधिक ही आत्म केन्द्रित हो गये हैं। मात्र धर्मोन्माद या अनुराग के क्षणों में ही हम इस भाव से उबर पाते हैं। स्वामीजी ने मानव की इन कमजोरियों को बखूबी समझा था। अन्ततः उन्होंने एक के शुभ को अनेक के शुभ से विश्व में अस्तिव की एकता के महत्व को रेखांकित करते हुए जोड़ा। अस्तित्व की एकता एक वास्तविकता है। बुद्धि के माध्यम से इसे न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न खंडित। उसकी प्रमाणिकता हृदय की गहराइयों में मापी जा सकती है। अगर हम उसे मात्र सिद्धान्त ही माने तब भी इसमें यह मलभूत विवेक उपस्थित है कि मानव को स्वयं की तरह ही अपने पड़ोसी को प्यार करना चाहिए न कि उसका गला काटना चाहिए। स्वार्थ के सिद्धान्त को मानने वाले, मानवतावादी यहाँ तक कि तार्किक भौतिकवादी को भी आज या कल यह मानना पड़ेगा कि मानव की उत्तेजना को अक्षुण्ण रखने के लिए यह अपेक्षित है कि न केवल अपने लिए बल्कि समाज की रक्षा लिए काम किया जाय। ईश्वर के पितृत्व के बिना मानव-मानव के बीच भाईचारा पाना निरर्थक है। इस तथ्य को हम जितनी जल्दी समझ जाएँ देश के लिए उतना ही अच्छा है। जब हम इस सहज एकता को समझ जाएंगे तब यातना भोगने वाले लोग हमारे लिए दया के पात्र नहीं होंगे जिन्हें आज हम उपेक्षा भाव से मात्र कुछ पैसे दे दिया करते हैं। बल्कि ये निर्धन, अज्ञानी पतित के रूप में उपस्थित लोग ईश्वर के स्वरूप होंगे। यही दरिद्र नारायण का सिद्धान्त है जिसके माध्यम से मार्क्स के वर्ग संघर्ष से संसार की रक्षा की जा सकती है।

प्राचीन जर्जर संसार के स्थान पर एक नये संसार का उदय क्रमिक रूप से हो रहा है।

स्वामी विवेकानन्द के श्रीमुख से की गई भारत की सनातन आध्यात्मिकता की पुनर्व्याख्या भी आधुनिक परिवेश के सर्वथा अनुकूल है। हममें इसे स्वीकारने का साहस होना चाहिए। सभी उपनिषदों में निर्भयता की चर्चा एक दृढ़ कवच के रूप में की गयी है। इस प्रकार के क्रांतिकारी आदर्श की स्थापना के लिए हमें अत्यन्त निर्भय होना पड़ेगा तथा इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए अपने देश तथा उसकी संस्कृति को तहे दिल से प्यार करना होगा। मद्रास में स्वामीजी द्वारा दिये गये भाषण के अनुसार उनकी 'प्रचार की योजना' वास्तव में देश को आध्यात्म की बाढ़ में बहाने की योजना है। यही एकमात्र वह कुंजी है जिससे सभी के हृदय कपाट के ताले खोले जा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द जैसे आध्यात्मिक व्यक्तित्व को मात्र किसी विशेष जाति या देश की सम्पत्ति नहीं माना जा सकता। उनपर किसी विशेष जाति या देश का विशेषाधिकार नहीं हो सकता। विवेकानन्द तो विश्वव्यापी धर्म तथा सम्पूर्ण संसार की संस्कृति की रक्षा के लिए थे। उनके प्रभावशाली संदेश सम्पूर्ण मानवता के प्रति थे। वे भारतीय इस अर्थ में थे कि आधुनिक युग में भारत ने उन्हीं के माध्यम से स्वयं को व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनके विचारों का विश्वव्यापी महत्व है। वे सभी देशों के लिए महत्वपूर्ण हैं। वे एक ऐसे अपूर्व सांस्कृतिक विरासत हैं, जो पूर्व और पश्चिम दोनों को संतुष्ट कर सकते हैं। हमें उनके आदर्शों की व्यष्टि तथा समष्टि में स्थापित करने की आवश्यकता है। और यही है आधुनिक युवाओं के प्रति स्वामी विवेकानन्द का संदेश।

□

अष्टावक्र गीता का अध्यात्म-बोध

—डा० हरिनारायण मिश्र

जिन तत्वद्रष्टा ऋषियों ने भारतीय दर्शन के लिए वेदों और उपनिषदों के पश्चात् स्रोत-सामग्री प्रस्तुत कर इसकी आधारभूत मान्यताएँ प्रस्तुत और विकसित की हैं, उनमें मौलिकता और दृढ़ता की दृष्टि से अष्टावक्र अग्रगण्य हैं। उनके आप्त वचनों का संग्रह 'अष्टावक्र-संहिता' अथवा 'अष्टावक्र गीता' के नाम से सुविख्यात है और इसकी प्रतिष्ठा सम्पूर्ण विश्व में श्रेण्य ग्रन्थ के रूप में है। भारतीय मनीषी श्रीमद्भगवद्गीता के तुलनामूलक अनुशीलन के क्रम में इसकी चर्चा अनिवार्य रूप से करते रहे हैं।

अष्टावक्र का उपाख्यान महाभारत के वन पर्व के एक सौ बत्तीसवें अध्याय से एक सौ चौंतीसवें अध्याय तक उपलब्ध है। स्वामी चिन्मयानन्द द्वारा सम्पादित 'अष्टावक्र गीता' की भूमिका में वन पर्व के आधार पर अष्टावक्र का जो जीवनवृत्त प्रस्तुत है, उसके अनुसार सुजाता और कहोड़ के पुत्र अष्टावक्र ने मातृ-गर्भ में ही वेदों को आयत्त कर लिया था। पिता कहोड़ सारी-सारी रात तन्मयतापूर्वक वेदों के मंडलों का विधिवत पाठ करते रहते थे और गर्भस्थ शिशु उन्हें अपनी चेतना में ग्रहण करता चलता था। एक बार ऐसा हुआ कि वह गर्भ से ही वेदपाठ की पिता की त्रुटियाँ गिनाने लगा और अद्वितीय विद्वान पिता ने अतिशय क्रुद्ध होकर उसकी काया को आठ स्थानों से वक्र होने का शाप दे डाला। अपमानित पिता के दुर्वार क्रोध से आविर्भूत शाप के परिणामस्वरूप भूमिष्ठ शिशु अष्टावक्र था और यही कहलाया भी

जाने लगा। उसका नाम ही अष्टावक्र प्रचलित हो गया।

कहोड़ की विद्वता की तरह उनकी दरिद्रता भी प्रचंड थी। राजकीय संरक्षण की प्राप्ति और अर्थ लाभ के उद्देश्य से वे राजर्षि जनक के दरबार में गये, किन्तु उनकी राजसभा के मुख्य पंडित वन्दी से शास्त्रार्थ में पराजित हो गये। पराजित कहोड को विजयी वन्दी ने अपने पिता वरुण की चाकरी में लगा दिया। दरिद्रता पहले से थी, अब दासत्व का फंदा भी गले से आ लिपटा। विद्याध्यन के क्रम में बालक अष्टावक्र को अपने पिता को लेकर सहपाठियों से तरह-तरह के ताने सुनने पड़ते थे। माँ से पिता का सही-सही पता-ठिकाना मालम कर बारह वर्षीय बालक अष्टावक्र ने मिथिला के लिए प्रस्थान किया। समस्त बाधा-विघ्नों का अतिक्रम कर वह जनक की राजसभा में जा पहुँचा। शास्त्रार्थ में उसने वन्दी को परास्त कर अपने पिता को मुक्त कराया। कहोड़ ने मुग्ध होकर अपने पुत्र को समंग नदी में स्नान कराया और उनके आशीर्वाद से उसकी विकलांगता ही दूर नहीं हुई, काया भी कंचन-सी दमक उठी।

'महाभारत का काव्यार्थ' में पंडित विद्यानिवास मिश्र ने महाभारत के जिन संस्करणों को अपने अनुसंधान का आधार बनाया है, उनके अनुसार शास्त्राथ में पराभव के बाद वन्दी ने कहोड़ को जल में डुबा दिया था। पिता की मृत्यु का दुःसंवाद सुनकर बालक अष्टावक्र जनक की राजसभा में वन्दी से शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुआ था। तदनन्तर वन्दी को परास्त कर उसने राजा से उसे मृत्युदंड दिलवाया था।

जीवनवृत्त की इस संस्करणगत आंशिक भिन्नता से मूल कथ्य में कोई अन्तर नहीं आता और मूल कथ्य यह है कि गर्भस्थ शिशु की अवस्था से लेकर अपने जीवन के शेष मुहूर्त तक अष्टावक्र की उत्तरोत्तर विकासशील योग्यता ने सम्पूर्ण विद्वत्समाज को चकित तथा अभिभूत कर रखा था और अभूतपूर्व दार्शनिक उपलब्धियों के लिए उनका सर्वप्रथम विधिवत जयघोष स्वयं श्रेष्ठ दार्शनिक, विदेह आख्या से विश्व-विश्रुत राजर्षि जनक की राजसभा में हुआ था।

अष्टावक्र गीता में गुरु-शिष्य संवाद है। गुरु अष्टावक्र और शिष्य राजर्षि जनक। जनक प्रश्न करते हैं और अष्टावक्र उत्तर देते हैं। ठीक उसी तरह, जिस तरह श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन शंकाएँ रखते चलते हैं और श्रीकृष्ण समाधान देकर उनके चित्त को निरुद्विग्न करते हैं। अष्टावक्र संहिता को अष्टावक्र गीता कहे जाने का यह शैलीगत कारण विशेष रूप से ध्यातव्य है। हमारे वाङ्मय में ग्रंथों का नामकरण अभिव्यक्ति की पद्धति और प्रक्रिया के आधार पर करने की प्रथा आरम्भ से ही रही है। नामकरण इतने साभिप्राय रहे हैं कि मूल वक्तव्य के सारे संकेत उनमें विज्ञापित हो जाते हैं। स्फोट और ध्वनि से छन्द और पद के वैशिष्ट्य का उद्घाटन हमारी सारस्वत-परम्परा में निरपवाद प्रचलन का रूप धारण कर चुका है।

राजर्षि जनक अष्टावक्र गीता के पहले अध्याय के पहले श्लोक में अपने गुरु अष्टावक्र से पूछते हैं कि ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, मुक्ति कैसे हो सकती है, वैराग्य की प्राप्ति कैसे हो, हे प्रभु, मुझे यह बतलाओ :—

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तं एतद् ब्रूहि मम प्रभो॥

जनक के पहले ही कथन से यह ज्ञात हो जाता है कि अष्टावक्र गीता में ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य को लेकर पारस्परिक भाव से चिन्तन अनुस्यूत हैं। सर्वाधिक उल्लेखनीय यह है कि अष्टावक्र का विचारदर्शन एकान्त ईश्वरोन्मुख नहीं

है। ध्यान और साधना का महत्व उसमें सर्वोपरि है और वह इसलिए कि 'स्व' से साक्षात्कार, उसकी उपलब्धि का पथ प्रशस्त होता है। चैतन्य की अनुभूतिगत प्रक्रिया पूरी होती है। दृष्टि और अन्तर्दृष्टि से हम अनुभूति की गहराइयों में उतरते हैं। द्वैत भाव से मुक्त होकर अद्वैत की प्रतीतियों के माध्यम से सम्पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं और यों अस्तित्व सार्थक होता है। अष्टावक्र किसी चिराचरित विचारधारा के प्रवाह में अपने शिष्य को नहीं ले जाते बल्कि जीवन में निहित आध्यात्मिक यथार्थ और उसकी अभिव्यक्ति की दिशाओं की ओर से सतत आकृष्ट करते रहते हैं। कोई पूर्वाग्रह नहीं। चित्त की निर्मलता, उस पर किसी भी प्रकार के वैचारिक दबाव के अभाव की स्थिति में ही बोधशक्ति का स्फुरण संभव है। इस प्रकार अष्टावक्र के विचारों का उपनिषदों के अद्वैतवादी आदर्श से विलक्षण सामंजस्य है।

अष्टावक्र का अधिक बल इस बात पर है कि व्यक्ति को अपने स्वरूप की प्रतीति हो। 'स्व' की प्रतीति के लिए उन्होंने निर्वेद, समता और युक्ति की परस्पर निर्भरता और प्रतिपन्नता को अनिवार्य माना है। इनमें किसी भी एक की क्रियाशीलता बाकी दो के उसमें स्वाभाविक संचरण से ही संभव है। बिना निर्वेद और समता के युक्ति असंभव है और बिना मानसिक समता और बौद्धिक युक्ति के निर्वेद की कल्पना नहीं की जा सकती। तीनों परस्पर संश्लिष्ट हैं और मन तथा बुद्धि के स्तरों पर काया को प्रभावित, फिर प्रेरित करते हैं। विशुद्ध विज्ञान-चिद्रूप की व्याख्या के प्रसंग में अष्टावक्र चेतना के विभिन्न स्तरों के सम्बन्ध में विचार करते हैं और 'कैवल्य' को आदर्श स्थिति मानते हैं। इस आदर्श स्थिति की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण, सर्वोच्च आध्यात्मिक जागरण अनिवार्य रूप से अपेक्षित है और यह आध्यात्मिक जागरण साधना के माध्यम से सम्भव है। साधना की सम्पूर्णता और सार्थकता के लिए दृश्य जगत की स्पष्ट प्रतीति आवश्यक है। दृश्य जगत की सही प्रीति के बिना उससे यथार्थ सम्बन्धों को समझा नहीं जा सकता। यह दृश्य जगत है जिसकी स्वस्थ और निष्कलुष अवधारणा से साधक के मन में शांति का पारावार लहराता है। जीवन का सत्य तभी अधिगत होता है। अष्टावक्र आत्म साक्षात्कार की मेधा में प्रवेश के द्वार जिज्ञासुओं के लिए उन्मुक्त करते हैं और हमें मेधावियों की तरह जीवन और जगत के समस्त कार्य-व्यापार को देखने और समझने की अदम्य प्रेरणा देते हैं, हममें सत्य से नहीं घबराने का स्पन्दन भरते हैं। यह सब आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए है। यह आध्यात्मिक लक्ष्य है। जीवन्मुक्त अवस्था की प्राप्ति। अष्टावक्र ने ऐसा कुछ नहीं किया, जो आजकल की भाषा का उपयोग करें तो, 'जनप्रिय' हो या कहला सके। इसका कारण यह है कि अपने सिद्धान्तों का प्रचार या प्रसार मात्र उनका उद्देश्य न था, अपितु वह जिज्ञासुओं को आत्म-साक्षात्कार और आध्यात्मिक जागरण का प्रक्रियागत साधनाश्रयी अनुभव कराना चाहते थे उन्हें उनके अपने प्रयासों से जीवन्मुक्त देखना चाहते थे। उनके दर्शन में जिज्ञासुओं के लिए गुरु के अनुकरण या उसके निर्देश पालन के लिए कोई अवकाश नहीं है। जो कुछ करना है स्वयं करना है साधक अपना लक्ष्य स्वयं है और लक्ष्य पूर्ति का माध्यम भी स्वयं ही। ईश्वर भी सामने नहीं है, जिसे सामने रखकर उपासना की जाये और लोकोत्तर स्थिति तक पहुँचा जाये। अष्टावक्र गीता में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग अवश्य है, लेकिन वह 'स्व' के लिए है।

श्रीमद्भगवद्गीता से अष्टावक्र गीता की बहुत सारी समानताएँ हैं, विशेषतया ज्ञान, कर्म और योग की विश्लेषण प्रक्रिया में। अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में भी समानता है। अष्टावक्र गीता के अष्टादश अध्याय में जीवन्मुक्त के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नोद्विजतिमरणो जीवने नाभिनन्दति ॥

जीवन्मुक्त प्रशंसित होने पर प्रसन्न नहीं होता, निन्दित होने पर क्रुद्ध नहीं होता; जीन का अभिनन्दन नहीं करता, मरण से डरता नहीं।

छपरा के महान सन्त

स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन-कथा

चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

आलमबाजार मठ से शशीभाई के मद्रास चले जाने पर बाबूरामभाई ने ठाकुर की सेवा का भार सम्भाल लिया और तुलसीभाई मठ की सारी खरीददारी आदि के काम में लग गया। उस समय महापुरुष महाराज भी स्वामीजी के कहने पर कहीं चले गये थे, पर कहाँ यह याद नहीं।" सम्भवतः उन्होंने शिवानन्द महाराज की श्रीलंका यात्रा के बारे में यह बात कही थी।

गोपाल शील के उद्यान-भवन से स्वामीजी जिस दिन दार्जिलिंग को रवाना हुए, उसी दिन लाटू महाराज भी आलमबाजार मठ से बलराम-मन्दिर लौट आये। बलराम मन्दिर में रामदयाल बाबू जिस कमरे में रहते थे उसी में लाटू महाराज कुछ दिनों तक रहे। स्वामीजी ने दार्जिलिंग से लौटकर जिस दिन बलराम बाबू के मकान में सभा बुलाकर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, उस दिन लाटू महाराज वहाँ उपस्थित नहीं थे। यह बात हमें उन्हीं से मालूम हुई। बाद में इस मिशन के उद्देश्य को लेकर गुरुभाइयों के बीच बड़ा तर्क-वितर्क हुआ था। लाटू महाराज के मुख से हमने सुना है—"एक दिन तो योगीनभाई ने स्वामीजी से कहा, 'सभा करना, भाषण देना, लोगों का उपकार करूँगा ऐसा अभिमान लाना—यह सब तो विदेशी भाव हैं। ठाकुर के उपदेश क्या इस प्रकार के थे?' इस पर स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक कहा, 'तुझे कैसे पता चला कि यह सब ठाकुर का भाव नहीं है? अनन्त-भावमय ठाकुर को क्या तुम लोग अपनी बुद्धि की सीमा में आबद्ध रखना चाहते हो? ऐसा नहीं होगा। मैं वह घेरा तोड़कर उनके भाव सम्पूर्ण पृथ्वी पर बिखेर दूँगा। उन्होंने कभी भी मुझसे अपनी पूजा का प्रचार करने को नहीं कहा। ध्यान-धारणा और धर्म विषयक जो ऊँची-ऊँची बातें वे हमें सिखा गये हैं उन्हीं की उपलब्धि करके हमें जगत् को शिक्षा प्रदान करना होगा। तू सोचता है कि मैं एक और दल बनाने चला हूँ, पर बात ऐसी नहीं है। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम लोग धन्य हुए हैं। उनके भावों का लोगों में वितरण करने के लिए ही हमारा जन्म हुआ है। देख, प्रभु की कृपा का प्रमाण इस जीवन में अनेकों बार मिला है, भलीभाँति अनुभव हो रहा है कि वे ही मेरे पीछे खड़े होकर यह सब कार्य करा ले रहे हैं। जब मैं भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बाँधने तक को वस्त्र नहीं था, जब कौड़ीहीन होकर भी उस देश में जाने को कृतसंकल्प था, तब भी उनकी कृपा से मैं जहाँ कहीं गया, वहीं सहायता मिली। फिर जब इस विवेकानन्द का दर्शन करने को उस देश की सड़कों

पर नर-नारियों का ताँता लग जाता था, तब भी उनकी कृपा से उस मान-सम्मान को मैं अनायास ही हजम कर गया। प्रभु की इच्छा से जहाँ भी गया हूँ विजय मिली है। अब इस देश के लिए भी कुछ करना चाहता हूँ। तुम लोग सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे उनकी इच्छा से सबका मंगल होगा।' यह बात सुनकर योगीनभाई ने कहा था, 'हम लोग तो सदा से ही तुम्हारी बातें मानते आये हैं। परन्तु न जाने क्यों बीच बीच में एक तरह का सन्देह आ जाता—ठाकुर की कार्यप्रणाली अन्य प्रकार की देखने को मिली थी न! लगता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा को छोड़कर अन्य पथ पर तो नहीं चले जा रहे हैं। इसीलिए तुम्हें सावधान कर दिया करता हूँ।' यह सब सुनकर स्वामीजी ने योगीनभाई से कहा था, 'तुम लोगों ने उन्हें जितना समझा है, वे वस्तुतः उतने ही नहीं हैं। उनकी लीला अद्भुत है, भाव अनन्त हैं। उन्हें समझने का उपाय नहीं। अपनी उपमा वे स्वयं ही हैं। उनके अनन्त असीम भावों का कोई आर-छोर नहीं। इच्छा हुई तो अपने कटाक्ष से वे लाखों विवेकानन्द की सृष्टि कर सकते हैं। मैं उनका काम नहीं करूँगा—ऐसा कहने मात्र से ही क्या मैं चुप बैठ सकता हूँ? यदि वे मेरे भीतर से ही अपना कार्य सम्पन्न करना चाहें, तो बोल मैं क्या कर सकता हूँ?'

"योगीनभाई के साथ स्वामीजी की ये सब बातें सुनकर हमलोगों की भी आँखें खुल गयीं। हमारे मन में आया, 'ठीक ही तो है! अनन्त मत, अनन्त पथ! हम उन्हें क्या जानें? हम उन्हें क्या समझें? विवेकानन्द भाई ने समझा है, इसलिए तो हम लोगों को समझा रहा है। अरे, अपना भाव जगत् को समझाने के लिए ही तो वे विवेकानन्द भाई को छोड़ गये हैं। इसी कारण तो वे कह गये हैं, 'उसे मैं अपने कार्य के लिए खींच लाया हूँ।' यह सब सोचते-सोचते उनकी वह बात भी याद आ गयी, 'अरे, सभी को देखता हूँ—कोई तो दीपक है, कोई बड़ा प्रदीप है, बहुत हुआ तो कोई एक बड़ा तारा है, परन्तु मेरा नरेन सूर्य है उसके सामने बाकी सभी म्लान हो जाते हैं। तो भी एक दिन मैंने स्वामीजी से कहा, 'भाई, इतना सब झंझट क्यों बढ़ा रहे हो? इससे तो ध्यान-धारणा सब चौपट हो जाएगी।' इस पर लोरेनभाई ने हँसते-हँसते क्या कहा जानते हो?—'इतना झंझट क्यों कर रहा हूँ यह तू भला क्या समझे? तू तो घोर मूर्ख है, जैसे गुरु वैसे ही उनका चेला! प्रह्लाद के समान 'क' देखते ही तू आँसू बहाने लगता है। तुम लोग भक्तों के दल हो, तुम लोग यह सब क्या समझोगे? तुम लोग केवल छोटे बच्चे की तरह नाक में रो सकते हो। सोचते हो कि इसी से मुक्ति हो जाएगी? अन्तिम दिन वे आकर तुम लोगों को बैकुण्ठ ले जाएँगे? और यहाँ जो लोग ज्ञान की चर्चा, लोकशिक्षा और दुखी-अनाथों की सेवा में लगे रहते हैं, वे सभी नरक में जाएंगे, क्योंकि यह सब माया जो है? तुम लोगों का यही कहना है न कि दूसरों का उपकार करने जाना अनधिकार-चेष्टा है। इन सब झंझटों से भगवत्प्राप्ति नहीं होती। मानो भगवान को प्राप्त करना इतना ही सहज है; मुख से बोलते ही वे मिल जायंगे! एक चित्र रखकर उस पर दो फूल चढ़ाकर पूजा करने से ही भगवान अपनी मुट्ठी में आ जाएँगे! क्यों यही बात है न, बोल?' ये सब बातें सुनकर मैं तो हक्का-बक्का रह गया। एक गुरुभाई मेरी एक बात को लेकर कुछ कहने गये, उस पर विवेकानन्द-भाई गरम (उत्तेजित) होकर बोले, 'अरे, तुम लोग जिसे भक्ति कहते हो, वह तो एक बड़ी मूर्खता है, वह मनुष्य को दुर्बल मात्र करती है। तुम्हारी ऐसी भक्ति का भला चाहता ही कौन है? जो भक्ति एक स्वार्थी व्यक्ति के समान अपनी ही मुक्ति की चिन्ता में लगाये रखती है, दूसरों के लिए जिससे दिल में सहानुभूति नहीं आती, ऐसी भक्ति में मेरा विश्वास नहीं। दूसरों को ऊपर उठाकर मनुष्य

बनाने के लिए मैं खुशी-खुशी हजार बार नरक में जाने को प्रस्तुत हूँ, परन्तु तुम लोगों जैसी भक्ति-मुक्ति में मेरी रुचि नहीं है। वैसी मुक्ति को मैं मुक्ति ही नहीं मानता। जो रामकृष्ण ऐसी मुक्ति की बात कहें, उस रामकृष्ण-वामकृष्ण आदि किसी की भी बात नहीं सुनना चाहता, समझे ? एक दिन मैंने तुम लोगों की इसी भक्ति-मुक्ति की इच्छा व्यक्त की थी, जिस पर उन्होंने मुझे हीन-बुद्धि और स्वार्थपर कहा था। मैं क्या तुम लोगों की इन बातों में आ सकता हूँ ? मुझे उन्होंने (ठाकुर ने) जैसा समझाया है, मैं उसी उद्देश्य को लेकर काम करना चाहता हूँ। जो अपनी मुक्ति की परवाह न करते हुए दूसरों की सेवा करने को प्रस्तुत है, मैं उसी का दास हूँ।' इतना कहकर विवेकानन्द-भाई रो पड़ा और कमरे के बाहर चला गया। तब हम लोगों के मन में बड़ा खेद हुआ कि क्यों मैंने विवेकानन्द-भाई से ये सब बातें छेड़ी ? उसी को तो ठाकुर हम लोगों का लीडर बना गये हैं। उसकी बात मानकर चलना यही तो हमारा कर्त्तव्य है। मैंने प्रतिज्ञा की कि अब मैं कभी उसके साथ तर्क नहीं करूँगा, समझे ! उसके बाद वाले दिन उसे अकेले में पाकर मैंने कहा, 'भाई, मैं एक मूरख आदमी ठहरा। मेरी बात का दुःख न मानना।' मेरी बात सुनकर स्वामीजी ने कहा, 'इतना सब झंझट क्यों करना चाहता हूँ, जानते हो ? तुम्हारा या मेरा भला होगा ऐसा सोचकर यह सब नहीं किया जा रहा है। हमारे बाद जो लोग आएँगे, उन लोगों के लिए यह सब हो रहा है। हम लोगों ने अपने जीवन में जो सब कष्ट उठाये हैं, हमारे बाद जो लोग आयेंगे उन्हें वे सब दुःख-कष्ट न भोगने पड़ें इसी उद्देश्य से मैंने इतना झंझट स्वीकार किया है। यहाँ आने पर वे लोग थोड़ा दाल-भात खाकर निश्चित मन से जप ध्यान कर सकें और सर्वदा सत्कार्य, सच्चिन्तन और सत्संग में लगे रह सकें, इसी की व्यवस्था कर जाना चाहता हूँ। उनकी कृपा से सब-कुछ ठीक हो जायगा, समझे !' अब तो देखता हूँ कि विवेकानन्द-भाई का मठ बनाने का उद्देश्य सफल हो गया है।" १९०७ ई० में एक भक्त के साथ बलराम मन्दिर में वार्तालाप के समय लाटू महाराज ने ये बातें कहीं थीं।

१८९७ ई० के मई में स्वामीजी उत्तर भारत का भ्रमण करने निकले और इस बार वे लाटू महाराज को भी अपने साथ ले गये। स्वामीजी के साथ वे अल्मोड़ा, अम्बाला, अमृतसर, कश्मीर, लाहौर, देहरादून, दिल्ली, अलवर, खेतड़ी और जयपुर गये थे। प्रत्येक स्थान का कुछ-न-कुछ प्रसंग हमें विभिन्न भक्तों से सुनने को मिला है। यहाँ पर हम उन सभी को एक साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

"स्वामीजी जब परिव्राजक के रूप में विविध स्थानों में भ्रमण कर रहे थे, उन दिनों अल्मोड़ा पहाड़ में एक बार वे अन्नाभाव से दुर्बल होकर मृतप्राय हो गये थे। तब (अल्मोड़ा कब्रिस्तान के प्रहरी) एक मुसलमान फकीर ने उन्हें एक ककड़ी खिलाकर स्वस्थ किया। कालक्रम से जब स्वामी-जी प्रथम विदेश-यात्रा से लौटकर अल्मोड़ा-भ्रमण करने को ये, तो उसी फकीर के साथ उनकी भेंट हुई। लाटू महाराज ने इस प्रसंग में कहा था—"स्वामीजी इतने से उपकार को भी बहुत बढ़ाकर देखते थे, छोटा सा उपकार भी कभी भूलते न थे। अल्मोड़ा में जब मैं बद्री साह के घर में था, तब स्वामीजी एक मुसलमान फकीर को देख दौड़कर गये और उसके हाथ में दो रुपये दिये। मैं तो अवाक् ही रह गया। मैंने पूछा, 'इस आदमी को रुपये क्यों दे रहे हो ?' स्वामीजी ने कहा, 'इस फकीर ने मेरी प्राणरक्षा की थी। मैं जब यहाँ भूख से अचेत हो पड़ा था तब इसी ने मुझे ककड़ी खिलाकर बचाया था। तू कहता क्या है रे, लेटो ! उसका ऋण क्या रुपये देकर चुकाया जा सकता है ? कुसमय के उपकार का मूल्य नहीं दिया जा सकता।"

लाटू महाराज ने एक दिन हम लोगों से कहा था—"विवेकानन्द-भाई से भेंट करने के लिए सेवियर साहब शिमला पहाड़ से उतर आये थे। स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि यह घटना अम्बाला में हुई थी इसी आधार पर हम कह सकते है कि लाटू महाराज अम्बाला गये थे।

उन्होंने और भी कहा था—"सिक्खों के मन्दिरों के गुम्बज सोने के बने हैं। विश्वनाथ के मन्दिर का भी वैसा ही देखते हो न! आजकल लोगों के पास धन नहीं है इसीलिए अब वे सोने का नहीं बनवा पाते। परन्तु उस काल के लोगों के पास जैसे धन था, वैसे ही वे धर्म के लिए खर्च भी करते थे।" इस कथन से हमने अनुमान लगाया है कि अमृतसर के गुरुद्वारे को देखकर ही उन्होंने ये बातें कही होंगी।

कश्मीर-भ्रमण के दौरान कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ हुयी थीं। स्वामीजी ने कश्मीर में एक हाउसबोट किराये पर लिया था। हाउसबोट के माँझी लोग भी अपने बाल-बच्चों के साथ नाव में ही एक किनारे रहा करते थे। लाटू महाराज ने नाव में चढ़ते ही उसमें एक महिला को देखा। बस फिर क्या था, वे तुरन्त ही हाउसबोट से उतर पड़े। स्वामीजी ने कहा, "मैं हूँ न, फिर तुझे भय कैसा! मेरे रहते तेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा।' तब कहीं वे राजी होकर नाव में चढ़े। (श्रीयुत् गिरीशचन्द्र घोष से प्राप्त।)

अन्य घटना इस प्रकार है—कश्मीर में एक दिन स्वामीजी हिन्दुओं की एक प्राचीन कीर्ति का अवलोकन कर लौटने के बाद बोले, 'वह मन्दिर कोई दो-तीन हजार वर्ष पुराना है।' यह बात सुनकर लाटू महाराज ने स्वामीजी से पूछा, 'दो-तीन हजार वर्ष पुराना! तुम्हें कैसे मालूम हुआ? वहाँ क्या यह बात लिखी हुई थी, मुझे समझा दो।' उनकी बात सुनकर स्वामीजी हँसने लगे और बोले, 'अरे, तुझे मैं यह बात नहीं समझा सकूँगा। यदि तूने पढ़ना-लिखना सीखा होता तो शायद तुझे समझाने की कोशिश करता।' लाटू महाराज इस बात पर जोरों से हँस पड़े और बोले, 'ओह! समझ गया। तुम ऐसे विद्वान् हो कि मेरे जैसे वज्रमूर्ख को भी नहीं समझा सकते।' लाटू महाराज की यह बात सुनकर सभी लोग हँस पड़े।

निम्नलिखित प्रसंग से उनके लाहौर जाने की बात का संकेत मिलता है- "एक दिन एक व्यक्ति ने (जो स्वामीजी का सहपाठी रह चुका था) स्वामीजी से पूछा, 'भाई! अब मैं तुम्हें किस नाम से पुकारूँ?' इस पर स्वामीजी ने उसे कहा, 'क्यों रे मोती! तू पागल हुआ है क्या? मैं क्या हो गया हूँ? मैं भी वही नरेन हूँ और तू भी वही मोती है।' स्वामीजी की बात सुनकर मोती बाबू का संकोच दूर हो गया। मोती बाबू एक दिन हमें सर्कस भी दिखा लाये थे।"

"देहरादून में वे लोग दस-पन्द्रह दिन रहे।" वहाँ से स्वामीजी को ले जाने के लिए खेतड़ी से आदमी आया था। इसके अतिरिक्त (वहाँ के बारे में) अन्य कोई भी बात हमें लाटू महाराज से सुनने को नहीं मिली।

(क्रमशः)

विवेक चूड़ामणि

भाष्यकार—स्वामी वेदान्तानन्द

अनुवादक—डॉ० आशीष बनर्जी

विचार सामर्थ्य के तारतम्य के अनुसार मनुष्य की आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणा है :—

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि—
र्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेक विज्ञानवतो महात्मनो
ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ॥१६०॥

जड़ व्यक्ति देह को ही 'मैं' समझता है। (देह से पृथक उसकी कोई सत्ता हो भी सकती है, यह बात वह सोच ही नहीं सकता)। शास्त्र पाठ के फलस्वरूप जिसने आत्मा के विषय में जाना है, वह कभी देह को 'मैं' समझता है, और कभी प्राणादि-उपाधियुक्त जीव चैतन्य को अपना स्वरूप समझता है। और आत्म-अनात्म विचार में निपुण उत्तम अधिकारी पुरुष को विचार के फलस्वरूप विज्ञान (आत्म स्वरूप की यथार्थ अनुभूति, उत्पन्न होने पर वह सर्वदा 'मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव करता है।

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढ़बुद्धे
त्वङ्मांस मेदोऽस्थि पुरीष राशौ ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भवस्व ॥१६१॥

अरे निर्बोध, इस त्वक, मांस, मेद, अस्थि एवं पुरीष राशि युक्त शरीर में 'मैं' ज्ञान छोड़ दो। सर्वात्मा निर्विकल्प ब्रह्म में ही आत्मभाव करता रह एवं इस भावना के फलस्वरूप परम शान्ति का अनुभव कर।१६१।

कोई कुकर्म, कुवाक्य या कुचिन्ता त्याग करने पर परोक्ष लाभ होता है। जैसे कोई चोरी करना या झूठ बोलना छोड़ दे तो वह चोर या मिथ्यावादी नहीं कहलाता। परन्तु देह में 'मैं' बोध रूप मिथ्या-ज्ञान का त्याग करने में समर्थ होने पर प्रत्यक्ष लाभ होता है – परमशान्ति की प्राप्ति अविलम्ब होती है।

कितना भी शास्त्र पढ़ो या विचार क्यों न करो, देहाभिमान के रहते मुक्ति सम्भव नहीं।

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां
विद्वानहन्तां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता —
ष्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी ॥१६२॥

कोई विद्वान व्यक्ति, वेदान्त दर्शन का एवं नीतिशास्त्र का कितना बड़ा पंडित ही क्यों न हो, जबतक अनित्य देहेन्द्रियादि (एवं विषय में) भ्रम से उत्पन्न 'मैं और मेरा' बोध त्याग नहीं करता, तब तक उसके मुक्तिलाभ की कोई सम्भावना नहीं है।

अतएव देह को किस दृष्टि से देखना होगा ?

छायाशरीरे प्रतिनिम्बमात्रे
यत्स्वप्न देहे हृदि कल्पिताङ्गे ।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्-
जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥१६३॥

निज छाया में, शरीर के प्रतिबिम्ब में, स्वप्न में दीखने वाला देह या मन के द्वारा कल्पित देह में जिस प्रकार 'मैं' का बोध नहीं होता, उस प्रकार जिवित शरीर में भी 'मैं' की धारणा नहीं होनी चाहिए।

देहात्म बोध के त्याग में ही मुक्ति है :—

देहात्मधीरेव नृणामसिद्ध्यां
जन्मादिदुःख प्रभवस्य बीजम् ।

अतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्ना—
त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ॥१६४॥

शरीर में 'मैं' का अभिमान अज्ञ मनुष्यों के जन्म मरणादि रूप दुःखोत्पत्ति का कारण होता है अतः तुम इस देहात्मबुद्धि को यत्नपूर्वक परित्याग करो। मन कल्पित देहात्मबुद्धि को त्याग करने में समर्थ होने पर फिर जन्ममरण की सम्भावना नहीं रहती ।१६४।

मिथ्याज्ञान द्वारा ही मनुष्य में आसक्ति, विद्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। अन्तःकरण इस सब दोषों के वशीभूत होने पर मनुष्य बुरे-भले नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है। इन सब कर्मों के फलस्वरूप जीव बार-बार जन्म-मृत्यु के अधीन होता है और जन्म होने पर दुःख भोग अनिवार्य हो जाता है। अतः मिथ्या ज्ञान त्याग ही दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है। देहात्मबोध के चले जाने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वतः प्रकाशित होता है एवं अज्ञान सदैव के लिए नष्ट हो जाता है।

'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरास्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' छा० उ०, ८/१२/१—'जो देहाभिमानी है उन्हें सुख दुःख का विराम नहीं है। अपने अशरीरी स्वरूप को जानकर देहाभिमान का त्याग करने पर सुखदुःख पुनः स्पर्श नहीं कर सकते।'

अन्नमय कोश रूप स्थूलदेह में आत्माभिमान करना निषेध किया गया। अब अन्य चार सूक्ष्म कोषों का वर्णन कर, वे भी आत्मा नहीं हैं, यह कहा जा रहा है—

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं
प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः
प्रवर्तते सो सकलक्रियासु ॥१६५॥

पञ्चकर्मेन्द्रिय के सहित संयुक्त होकर प्राण ही प्राणमय कोश रूप में परिणत होता है। इसी प्राणमय कोष द्वारा व्याप्त होकर जड़ अन्नमय कोश चैतन्य की भाँति सभी कर्मों में प्रवृत्त होता है ।१६५।

श्रुति कहती है— 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः।' तै० उ० (२/२) —'इस अन्नरसमय देह पिण्ड से पृथक परन्तु उसी के अन्दर प्राण के परिणामभूत एवं आत्मा रूप में कल्पित प्राणमय कोष है। उस प्राणमय कोश द्वारा अन्नमय कोश परिपूर्ण है।'

कर्मेन्द्रिय अर्थात् हस्तपादादि दृश्यमान स्थूल इन्द्रिय समूह नहीं, वरन् मस्तिष्क के अन्दर स्थित इन्द्रिय समूह का परिचालक सूक्ष्मशक्ति को समझना होगा।

प्राणमय कोश आत्मा नहीं है। क्योंकि यह जड़, विकारवान एवं अनित्य है—

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो
गन्तमन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।
यस्मात्किंचित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं
स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्र ॥१६६॥

प्राणमय-कोश अपञ्चीकृत वायु विकार होने के कारण आत्मा नहीं है। (इसका आत्मा के साथ अभिन्न न होने का अन्य कारण) चूँकि यह वायु की भाँति भीतर और बाहर आवागमन करता है, चूँकि यह कभी भी किंचित मात्र अच्छा बुरा नहीं समझ सकता, 'कौन अपना है कौन पराया है' यह निर्णय भी नहीं कर सकता, तथा जिस कारण यह सदा पराधीन है, अतः यह आत्मा नहीं हो सकता ।१६६।

श्वास प्रश्वास में प्राणवायु स्थूल भाव से प्रकाशित होता है।

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

अब पोलीजार में उपलब्ध

स्मृति

कफ खांसी नाशक

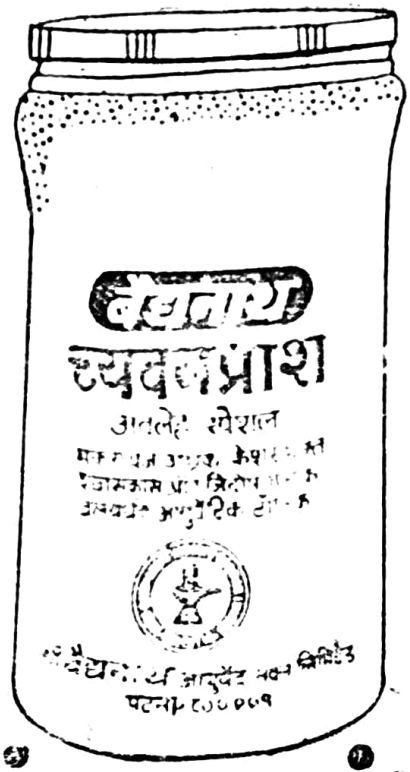

यौवन

दिमागी ताजगी

विकास

बलवर्द्धक

आदर्श आयुर्वेदिक
पारिवारिक टानिक

कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?

प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं ३०५ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।

बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता है

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

बैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१

स्वामी विवेकानन्दकृत सम्पूर्ण साहित्य

पुस्तक	मूल्य
योग	
ज्ञानयोग	१४.००
राजयोग (पातञ्जल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित)	९.००
प्रेमयोग	५.००
कर्मयोग	६.००
भक्तियोग	४.००
ज्ञानयोग पर प्रवचन	२.००
सरल राजयोग	२.००
धर्म तथा अध्यात्म	
धर्मविज्ञान	५.००
धर्मतत्त्व	४.५०
धर्मरहस्य	३.००
हिन्दूधर्म	६.००
हिन्दूधर्म के पक्ष में	२.००
शिकागो वक्तृता	१.५०
नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान	३.००
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता	४.५०
भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश	२.००
देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश)	८.००
कवितावली (आध्यात्मिक अनुभूतिमय काव्य)	४.००
वेदान्त	४.२५
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	३.५०
आत्मतत्त्व	३.५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	५.००
मरणोत्तर जीवन	१.५०
जीवनी	
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ	६.००
मेरे गुरुदेव	२.५०
ईशदूत ईसा	१.००
पवहारी बाबा	२.००

पुस्तक	मूल्य
सम्भाषणात्मक	
विवेकानन्दजी के संग में	१३.००
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	५.००
विवेकानन्दजी के संस्मरण	५.००
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	३.००
विविध	
विवेकानन्द साहित्य संचयन (महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र काव्य आदि का प्रातिनिधिक संचयन)	२५.००
" (सस्ता संस्करण)	१०.००
पत्रावली — (धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज राष्ट्रोन्नति इत्यादि सम्बन्धी स्फूर्तिदायी पत्र)	२१.००
भारतीय व्याख्यान	२०.००
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध	४.००
हमारा भारत	१.५०
वर्तमान भारत	२.००
नया भारत गढ़ो	२.५०
भारतीय नारी	४.००
जाति, संस्कृति और समाजवाद	४.००
शिक्षा	५.५०
सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार	३.५०
मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ	१.५०
विविध प्रसंग	५.००
चिन्तनीय बातें	४.००
परिव्राजक (मेरी भ्रमणकहानी)	४.५०
प्राच्य और पाश्चात्य	४.५०
युवकों के प्रति	६.००
विवेकानन्द – राष्ट्र को आह्वान (पॉकेट साईज)	१.२५
शक्तिदायी विचार (,,)	१.००
सूक्तियाँ एवं सुभाषित (,,)	१.००
मेरी समर-नीति (,,)	१.००
मेरा जीवन तथा ध्येय (,,)	१.००

प्रकाशक : रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर–४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना – ४ में मुद्रित।